वि० त्रि०—भाव यह कि धनुष तोड़नेवालेका बिना विचार वरण करनेकी प्रतिज्ञा थी। यदि कोई उठा भी लेता तो विचार किया जाता कि विवाह किया जाय या नहीं। और इस अवस्थामें तो विचारको भी स्थान नहीं है। चढ़ाना या तोड़ना तो उठानेके बाद बनता है। यहाँ तो कोई हिला भी नहीं सका। भाव यह कि इसका तोड़ना राजसभाके लिये असम्भव व्यापार है, तब किस आशासे राजसमाज बैठा है।

टिप्पणी—२ (क) *'अब जनि कोउ माखै भट मानी'* इति। बन्दीजनके वचन सुनकर *'भटमानी अतिसय मनमाषे'* थे, इसीसे कहते हैं कि अब कोई न तमतमाये। अर्थात् अबतक जो गरमाये सो गरमाये अब न गर्माना! **मानी**=जिनको सुभट होनेका अभिमान है। अथवा जिनका जगत्में मान है। यह तो निश्चय ही है कि जिनसे नहीं उठा वे क्यों बुरा मानने लगे तब *'अब जनि कोउ माखै'* कहनेका प्रयोजन ही क्या, यह इससे कहा कि कोई गुप्त वीर होगा वह न सह सकेगा, उसे ये वचन बाण-समान लगेंगे। उससे बिना उठे न रहा जायगा। और हुआ भी यही। (ख) *'बीर बिहीन मही'*······' इति। तिलभर जगहसे धनुष न उठा इसीसे जाना गया कि पृथ्वी निर्वीर हो गयी। प्रथम हम सबको वीर-रणधीर समझते रहे (इसीसे प्रथम कहा था कि *'बिपुल बीर आए रनधीरा'*) पर अब जान गये कि वीर कोई रह नहीं गये। (ग) प्रथम तो देव-दनुजादि तीनों लोकोंके वीरोंको गिनाया था अब केवल *'महि'* को कहते हैं, कारण कि तीनों लोकोंके वीर इस समय पृथ्वीमें ही जमा हैं। (अथवा, देव-दनुज तो कपट-वेषसे आये थे, निमन्त्रित तो केवल पृथ्वीके ही राजा थे।)

नोट—१ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि—'राजा जनक नृपसमाजको देखकर अकुलाये थे। इसलिये व्याकुलताके कारण प्रभुकी ओर चित्त न रहनेसे *'बीर बिहीन मही'* का हो जाना उन्होंने अपने जानते कहा। अथवा, यहाँ उनकी दृष्टि ही दूसरी हो गयी थी, यथा—*'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥'* (२४२। ३) इससे ऐसा कहा। यद्वा उनका तात्पर्य है कि मही तो वीर विहीन हो गयी, अब इससे भिन्न पुरुषको इसमें उद्यत होना चाहिये। पुनः, यह परितापका समय है, यथा—*'मेटहु तात जनक परितापा॥'* (२५४। ६) अतएव परितापमें निकले हुए वचन प्रलापमात्र हैं।'

नोट—२ वीर कविजी—धनुष उठाने और तोड़नेकी सबको प्रबल उत्कण्ठा थी, इस सही बातको राजाका नहीं कर जाना और कहना कि *'कहहु काहि येहु लाभ न भावा।* ······' 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य' है।'

तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥ ४॥
सुकृत जाइ जो पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुँआरि रहउ का करऊँ॥ ५॥
जौ जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥ ६॥

शब्दार्थ—**हँसाई**=हँसीका पात्र। **सुकृत**=धर्म, पुण्य।

अर्थ—(जानकीजीके ब्याहनेकी) आशा छोड़िये और अपने-अपने घर जाइये। विधाताने वैदेहीका विवाह नहीं लिखा है॥ ४॥ (जो कहो कि धनुष किसीसे नहीं उठता तो उसकी प्रतिज्ञा ही छोड़ दीजिये तो उसपर कहते हैं) जो मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँ तो मेरे सुकृत ही नष्ट हो जायँगे। (इससे) लड़की कुँआरी ही बनी रहे, इसे मैं क्या कर सकता हूँ॥ ५॥ भाइयो! यदि मैं जानता कि पृथ्वी योद्धाओंसे रहित है तो प्रण करके उपहासका पात्र न बनता (आपकी एवं अपनी हँसी न कराता)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'तजहु आस निज निज गृह जाहू'* । धनुष न उठनेपर भी अभी बैठे हैं इससे जान पड़ता है कि अभी आशा लगी है कि किसीसे नहीं टूटा है अतएव अब अवश्य जयमाल स्वयंवर करेंगे। उसीपर कहते हैं कि यह आशा छोड़ दो, यहाँ ठहरनेका अब कुछ काम नहीं है। जाकर अपने-अपने घरका काम देखिये। (ख) *'लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू'* इति। ब्रह्माका रचना दो बार कहा। एक तो *'पावनिहार बिरंचि······दमनीय',* दूसरे, यहाँ *'लिखा न बिधि······।'* (रचना और लिखना दोनोंका भाव एक ही है।) प्रथम बार जो कहा कि *'पावनिहार धनुदमनीय न रचा'* वह वरके विषयमें कहा और दूसरी बार जो कहा

वह श्रीजानकीजीके बारेमें कहा। तात्पर्य कि ब्रह्माने न तो यही रचा है कि कोई धनुष तोड़कर जानकीको ब्याहे और न यही लिखा है कि जयमाल स्वयंवर होगा। जानकीजी जयमाल डालेंगी इस तरह विवाह होगा यह विधाताने नहीं लिखा, क्योंकि मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका उसको छोड़नेका नहीं, चाहे कन्या कुमारी ही क्यों न रह जाय—जैसा आगे कहते हैं। मेरी प्रतिज्ञा विधिकी रेखसे कम नहीं है।

टिप्पणी—२ *'सुकृत जाइ·····'* इति। (क) प्रण छोड़ देनेसे ब्याह हो सकता है; उसीपर कहते हैं कि कन्याके विवाहके लिये हम प्रण छोड़ देते, परन्तु प्रण तोड़नेसे हमारे सुकृत जाते रहते हैं क्योंकि प्रणका त्याग सत्यका त्याग है और सत्य समस्त उत्तम सुकृतोंका मूल है; यथा—*'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥'* (२। २८) अतः सत्यके त्यागसे समस्त सुकृतोंका नाश अनिवार्य है। (देखिये जब दशरथजीने महर्षि विश्वामित्रको प्रथम वचन दिया कि मैं आपके सब मनोरथोंको पूरा करूँगा। यथा—*'केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥'* (२०७। ८) **'ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति। ५६।'·····कर्ता चाहमशेषेण'·····**।'(वाल्मी० १। १८) पर उनका मनोरथ सुनकर जब राजाने उसके पूरा करनेमें संकोच प्रकट किया तब महर्षिने यही कहा कि प्रतिज्ञा करके अब उसे तोड़ना चाहते हो, यह इस कुलकी रीतिके विरुद्ध है और इससे कुलका नाश है। यथा—**'पूर्वमर्थ प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि। राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः।'**(वाल्मी० १। २१। २) 'वसिष्ठजीने भी समझाया कि आप धर्मका त्याग न करें; क्योंकि प्रतिज्ञा करके मुकर जानेसे समस्त किये हुए सत्कर्म निष्फल हो जाते हैं। यथा—'·······**श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि॥ ६॥'·····प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तवधो भूयात्**·····॥ ८॥' (वाल्मी० १। २१) असत्यके समान कोई पाप नहीं है—**'नहिं असत्य सम पातकपुंजा।'** (२। २८) इसीसे सब अपने प्रणकी रक्षा करते हैं। यथा—*'सत्य सत्य पन सत्य हमारा', 'प्रान जाहु बरु बचन न जाई।'* (२। २८) अतः मैं प्रणका त्याग न करूँगा। (ख) *'कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ'* अर्थात् जब विधाताने उसका ब्याह ही नहीं लिखा तो कुँवरि कुमारी ही रहेगी। उसके कुँआरी रह जानेसे हमारे सुकृत नष्ट नहीं होनेके। तात्पर्य कि हम लड़कीके लिये अपना धर्म नहीं छोड़नेके। *'का करऊँ'* अर्थात् अपने सुकृतोंकी रक्षाके लिये मैं प्रणका त्याग नहीं करता। कन्या कुँआरी रह जाती है, इसमें हम कुछ नहीं कर सकते, कोई उपाय नहीं सूझता, यदि कोई और उपाय होता तो हम अवश्य करते।

टिप्पणी—३ (क) *'होतेउँ न हँसाई'* में 'प्राप्त' क्रियाका अध्याहार ऊपरसे होगा='हँसाई (हँसीको) न प्राप्त होतेउँ'। [पं० रामकुमारजीका *'होतेउ'* पाठ है जिससे अर्थ होगा—*'तो पनकरि'* (के कारण) आप हँसीको न प्राप्त होते'। सब राजाओंकी हँसी हुई, यथा—*'सब नृप भये जोग उपहासी'* और हमारी भी हँसी न होती।] कथनका आशय यह कि प्रतिष्ठितका उपहास मरणके समान है। यथा—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटिसम'·····*।' आप सबोंको मरणसमान क्लेश है और हमको भी। (ख) जो पूर्व कहा था कि *'बीर बिहीन मही मैं जानी'* उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि यदि मैं पहलेसे ऐसा जानता तो यह प्रण ही न करता, न आपकी हँसी होती न मेरी। [(ग) हँसीके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि ज्ञानी होकर भी मूर्ख साबित हुए, विचारकर प्रतिज्ञा न की। दूसरे यह कि इनकी लड़की अविवाहित रहेगी। (घ) पुनः भाव कि धनुष-भंग-प्रण वीरके लिये ही किया जाता है, पृथ्वी वीरविहीन है, इसलिये मैं उपहासका पात्र हो गया। नहीं तो सभीने धनुष-भंग सम्भव समझा था, इसीलिये आये भी थे। इसी भाँति मैंने भी सम्भव समझकर प्रतिज्ञा की थी (वि० त्रि०)]

जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥ ७॥
माषे लखनु कुटिल भैं भौहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें॥ ८॥

दो०—कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ रामपदकमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥ २५२॥

अर्थ—श्रीजनकजीके वचन सुनकर सब स्त्री-पुरुष श्रीजानकीजीको देखकर दुःखी हुए॥ ७॥ लक्ष्मणजी अमर्षको प्राप्त हुए (वचन न सह सके)। उनकी भौंहें तिरछी हो गयीं, होंठ फड़कने लगे, नेत्र क्रोधयुक्त हो गये॥ ८॥ श्रीरघुवीरजीके डरसे कुछ कह नहीं सकते, पर वचन मानो बाणसे लगे। श्रीरामजीके चरणकमलोंमें मस्तक नवाकर प्रामाणिक (सत्य, यथार्थ) वचन बोले॥ २५२॥

टिप्पणी—१ (क) *'जनक बचन सुनि……'*। भाव कि धनुष न उठा नर-नारी इससे दुःखी न हुए, क्योंकि आशा थी कि जयमाल स्वयंवर कर देंगे, पर जनकजीके *'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ'* इत्यादि वचनोंसे यह भी आशा जाती रही। अतः वचन सुनकर सबका दुःखी होना कहा। (ख) 'सब' को दुःख हुआ क्योंकि सब इसी लालसामें मग्न थे कि *'बरु साँवरो जानकी जोगू।'* (ग) *'देखि जानकिहि'* अर्थात् ऐसी सुन्दर कन्या (ऐसा सुन्दर वर सामने उपस्थित होते हुए भी) कुँवारी रह जाय? (घ) ☞सब पुरवासी दुःखी हुए कि धनुष न टूटनेसे जानकीजी कुँआरी रहेंगी पर श्रीजानकीजी दुःखी न हुईं क्योंकि राजाओंसे उन्हें ब्याह करना ही न था; वे तो खुश होंगी कि भला हुआ उनसे न टूटा। लक्ष्मणजीके वचन सुनकर उन्हें हर्ष हुआ, यथा—*'सिय हिय हरष……'*।' [(ङ) *'भये दुखारी'* का भाव कि उनके दुःखमें एक जनकजी ही सहारा देनेवाले थे पर जब उन्हींने ऐसे वचन कहे तो फिर और सुधारनेवाला ही कौन रह गया? अतः सब दुःखी हुए। (पाँड़ेजी) श्रीजनकजीके करुणामय अधीरताके वचन सुनकर और जानकीजीको देखकर सब करुणावश हो गये। विचारने लगे कि ऐसे उत्तम कुलकी रूप-शील-गुण-खानि कन्याके कुँआरी रह जानेसे सब गुण ही व्यर्थ हो गये। यह करुणा आयी। करुणा-रसका सहायक वीररस है। वही आगे सहायताको आ रहा है। (वै०)।] (च) जानकीजीकी भावना सबसे पृथक् है। यदि श्रीरामजीसे न टूटे तो वे दुःखी हों और सबोंकी भावना यह है कि किसीसे भी टूटे तो जानकीजीका विवाह तो हो जाय; इससे सब पुरवासियोंको एक साथ लिखा और इनको सबके साथ न लिखा।

टिप्पणी—२ (क) *'माषे लखन……'* इति। बंदीजनके *'नृपभुजबल बिधु शिवधनु राहू'* इस वचनपर राजा *'माषे'* थे। लक्ष्मणजीको उनके वचनोंपर 'माष' न हुआ था क्योंकि वे बड़े गम्भीर हैं, अपने बलको जानते हैं। परंतु जब जनकजीने स्वयं यह कहा कि *'बीर बिहीन मही मैं जानी'* तब न सह सके। इसको उन्होंने श्रीरामजीका तथा रघुवंशभरका अपमान माना। रदपट=ओंठ=होंठ। (ओठोंसे दाँत ढके रहते हैं इसीसे उनका नाम 'रद-पट' है) अमर्षके बाद क्रोध होता है सो क्रोधके चिह्न प्रकट हो गये—नेत्र लाल हो गये, भौंहें टेढ़ी हो गयीं। इत्यादि। वीरताका आवेश हो आया, वीरताका अभिमान होना 'माष' है। [इन वचनोंसे श्रीरामजीका अपमान हुआ कि जिनके लिये वे पिताको भी दुर्वचन कहनेसे न चूके और अपने भाइयोंको भी मारनेको उद्यत हो गये तब और किसीकी बात ही क्या? फिर भला उनको क्रोध क्यों न होता? वे चुप कैसे रहते? श्रीरामजीको डरते हैं इससे संकोच है, फिर भी न रहा गया। (☞श्रीलक्ष्मणजीके स्वभावका यह एक मर्म है।) कठोर वचन कोई भी नहीं बोल सकते, क्योंकि जानते हैं कि जनक-ऐसे ब्रह्मज्ञानीके लिये कठोर शब्दोंका प्रयोग करनेसे श्रीरामजी प्रसन्न नहीं होंगे, अतएव प्रणाम करके बोले। भक्त अपने इष्टको प्रणाम करके ही किसी कार्यका प्रारम्भ करते हैं (प्र० सं०।)]

टिप्पणी—३ *'कहि न सकत रघुबीर डर……'* इति। (क) *'रघुबीर डर'* यह कि जनकमहाराजके वचनोंका खण्डन करनेमें, उनके अपमानमें श्रीरामजी अप्रसन्न न हो जायँ। जनकजीका डर उनको किंचित् नहीं है। (ख) *'लगे बचन जनु बान'* अर्थात् जैसे मर्मभेदी बाण लगनेपर हाहाकार किये बिना कोई रह नहीं सकता वैसे ही ये वचन-बाण न सह सके, बिना बोले नहीं रह जाता, इसीसे 'अपराध क्षमा हो' इस भावसे अथवा भक्तिरीतिसे पदकमलमें सिर नवाकर बोले। ['जनु' से सूचित किया कि जनकजी रघुवीरोंका अपमान करनेके हेतुसे नहीं बोले थे, उनके वचन अन्य वीरोंके लिये बाण थे पर रामप्रेमी रघुवंशी वीर कुमारको

ऐसा लगा कि ये वचन अपमान करनेके लिये ही जनकजी बोले थे। परिस्थिति भी ऐसी ही है कि इसमें न जनकजीकी भूल है न लक्ष्मणजीकी। उरप्रेरक रघुवंश विभूषणकी इच्छासे ही लक्ष्मणजीमें क्रोध प्रविष्ट हुआ। लक्ष्मणजीका वीर्य, शौर्य, निस्पृहता, स्पष्ट वक्तृत्व, रामप्रेम, रघुकुलाभिमान, निर्भयता इत्यादि अनेक गुणोंका परिचय सब लोगोंको देनेके लिये ही यह लीला है। इसीलिये तो श्रीरामजी कुछ भी नहीं बोलते हैं, मन-ही-मन अपने अनुजके सद्गुणों और शुद्ध दास्य भक्तिकी सराहना करते हैं। (प० प० प्र०)] (ग) ***'गिरा प्रमान'*** अर्थात् हम भट हैं यह सत्य बाणी बोले [इससे सूचित किया कि जनकजीके वचन अप्रामाणित थे'। पुनः 'प्रमाण अर्थात् जिसमें स्वामीका सम्मान रहे और अपने बलसे अधिक भी न हो'—(पंजाबी।) पुनः, भाव कि यथार्थ ही बोले, क्रोधमें भी अप्रमाण वचन नहीं बोले'—(पाँड़ेजी)]

☞ श्रीराजारामशरणजी—१ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक रहस्योंके मर्म तो तुलसीदासजीकी कलामें कूट-कूटकर भरे हुए हैं। देखिये, चरित्रसंघर्ष, प्रसङ्गप्रभाव, परिस्थिति-निरूपण कितने सुन्दर और सूक्ष्म हैं। —राम और लक्ष्मण उठे ही नहीं। रावण और बाणासुर देखकर ही चले गये थे तो जनकका यह कहना बहुत अनुचित न था कि ***'बीर बिहीन मही मैं जानी'*** वे क्या जानें कि कारण क्या है? वे तो कन्याके प्रेमके कारण व्याकुल हो गये। मजा यह है कि उन्होंने कहा था कि ***'अब जनि कोउ माषै भट मानी'*** लेकिन 'माष' उत्पन्न हो ही गया, कारण कि वे भूल गये कि अभी दो वीर और बैठे हैं, उनसे पूछ तो लें या तनिक ठहर तो जायँ कि वे उठते हैं कि नहीं, अभीतक तो हुल्लड़ ही था।

परिस्थितिने लक्ष्मणके वीरत्वका विकास करा दिया। परन्तु ठीक बात विश्वामित्रजी ही समझे कि जनकजीने क्रोधमें तथा अपमान करनेके लिये कटु शब्द नहीं कहे बल्कि 'परिताप' के कारण, और इसीसे उन्होंने रामजीसे सकरुण अपील की है।—***'मेटहु तात जनक परितापू'।***

२—लक्ष्मणजीका चित्र कितना प्रगति और भावपूर्ण है Dynamic (चलती-फिरती) Indeed (अवश्य)। —***'रदपट फरकत'*** से साफ पता लगता है कि जैसे मोटरके इञ्जनमें उत्तेजना पैदा होनेके बाद मगर खुलनेके पहले जैसा कंपन होता है वैसा ही लक्ष्मणजीमें है। माष उत्पन्न हो गया है, मगर अभी आज्ञा नहीं है, इससे आवेगको दबाये हैं, मगर ओष्ठ फड़क ही गये। यहाँ 'जोश' भी है और उसकी 'रोक' (Discipline) भी। हमारे नवयुवकोंमें 'जोश' है मगर वह संयम नहीं कि ***'सैनहि रघुपति लषन निवारे'*** बड़ेका इशारा भावावेगके रोकनेको काफी है।

३—***'होतेउँ न हँसाई'*** में उपहासभावकी सकरुणता विचारणीय है।

वीरकविजी—'यहाँ लक्ष्मणजीके हृदयमें क्रोध स्थायीभाव है। जनकजीद्वारा कही भाटोंकी वाणी आलम्बन विभाव है, उसका कानोंमें पड़ना उद्दीपन विभाव है। रामचन्द्रजीका तिरस्कार सुनकर माखना, भौंह टेढ़ी होना, ओंठ फड़कना आदि अनुभाव हैं। वे चपलता, अमर्ष, उग्रतादि संचारी भावोंसे पुष्ट होकर 'रौद्ररस' हुआ है। दोहेमें 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।'

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥ १॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥ २॥

अर्थ—रघुवंशियोंमेंसे जहाँ भी कोई होता है उस समाजमें ऐसा (अनुचित वचन) कोई भी नहीं कहता कि जैसा अनुचित वचन जनकजीने, रघुकुलशिरोमणि आपको उपस्थिति जानते हुए भी कहा है॥ १-२॥

टिप्पणी—१ ***'रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई'*** इस कथनसे पाया गया कि सभी रघुवंशी वीर हैं; सभीको धनुष तोड़नेका सामर्थ्य है। (ख) ***'जहँ'*** से सूचित किया कि कैसा ही विकट कठिन काम वीरताका क्यों न हो, वे सब कर सकते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। (ग) ***'कोउ'*** अर्थात् साधारण-से-साधारण भी रघुवंशी क्यों न हो। ***'कोउ'*** कहकर ***'तेहि समाज'*** कहनेका भाव कि एक साधारण रघुवंशी भी समाजभरसे श्रेष्ठ होता है। लाखों वीरोंमें वह अग्रगण्य ही माना जाने योग्य है। वह एक ही सारे समाजकी

मर्यादाकी रक्षाके लिये काफी है। (घ) *'तेहि समाज'।* भाव कि जहाँ रघुवंशी न हों वहाँ ऐसे अनुचित वचन भले ही कहे जा सकते हों। (ङ) *'कहै न कोई'* अर्थात् रघुवंशका प्रभाव सभी जानते हैं, रघुवंशका ऐसा ही प्रताप है। (अतः उनके रहते हुए ऐसा कहनेका अधिकार किसीको नहीं। कहनेपर रघुवंशी अपनी वीरता प्रकट करता है, इस अनुचितको सह नहीं सकता। वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ (क) *'बिद्यमान रघुकुल मनि जानी'।* भाव कि उन्होंने जानबूझकर ये वचन रघुनाथजीहीपर कहे, सरासर रघुनाथजीका अपमान किया है। विश्वामित्रजीसे यह भी जान चुके हैं कि इन्होंने ताड़का, सुबाहु आदिको मारकर यज्ञरक्षा की और समाजमें बुलाकर बैठाकर यह अपमान किया। अपमान समझकर ही ये वचन बाण-सरीखे लगे। (ख) ☞ *'कही जनक जसि अनुचित बानी'।* यहाँ उन्होंने जनकजीको कोई कटु वचन नहीं कहे, इतना ही कहा कि वे अनुचित वाणी बोले। ऐसी अनुचित वाणी उनको न बोलनी चाहिये थी। यह साक्षात् न कहकर अभिप्रायसे जनाया। इससे जाना गया कि रघुनाथजीका डर है। *'कहि न सकत रघुबीर डर'* यह यहाँ चरितार्थ किया। (ग) *'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी'* कहनेसे जनकजीको उत्तरकी गुंजाइश न रह गयी। वे ये नहीं कह सकते कि हम इनको रघुकुलमणि और वीर न जानते थे। यदि जनकजी कहें कि हम जानते न थे कि ये रघुकुलमणि हैं तो उसपर कहते हैं कि यह बात नहीं है, वे श्रीरामजीको ऐसा जानते हैं, विश्वामित्रजी उनसे कह चुके हैं। यथा—*'रघुकुलमनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥', 'रामलखन दोउ बंधुबर रूप सील गुन धाम। मख राखेउ सब साखि जग जिते असुर संग्राम॥'* (घ) *'रघुकुलमनि'* कहनेका भाव कि रघुकुल तो स्वयं प्रकाशित है और ये तो उसके मणि हैं, प्रकाशरूप हैं, इनके प्रकाशसे कुल (और भी) प्रकाशित हो गया है।

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू॥ ३॥
जो तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥ ४॥

अर्थ—हे सूर्यवंशरूपी कमलके (प्रफुल्लित करनेवाले) सूर्य! सुनिये, मैं स्वभाव ही कहता हूँ, कुछ अभिमानकी बात नहीं कहता॥ ३॥ यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंदकी तरह ब्रह्माण्डको उठा लूँ॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'भानुकुल पंकज भानू'* का भाव कि रघुकुल जगत्‌में 'भानु' (सम) है (इस कुलसे और सब कुलोंकी शोभा है और आप इस कुलके भी भानु हैं) जब आप भानु हैं तब भानुकुल कमल है। तात्पर्य कि यह कुल आपके आश्रित है, आपही इसके सुखदाता हैं। (ख) ऊपर रघुनाथजीको *'मणि'* कहा और यहाँ *'भानु'*। भाव कि जनकजीके जाननेके प्रसङ्गमें 'रघुकुलमणि' और अपने जाननेके सम्बन्धमें *'भानुकुलपंकज भानू'* कहकर जनाते हैं कि जनकजी आपको मणि ही जानते हैं और मैं आपको भानु जानता हूँ। तात्पर्य कि मणिसे सूर्यमें अधिक प्रकाश होता है। जनकजीने आपके विद्यमान रहते अनुचित वाणी कही, इससे ज्ञात होता है कि वे आपके स्वरूपको अच्छी तरह नहीं जानते (यथार्थ जानते तो ऐसा न कहते अथवा स्वरूपको भूल गये)। इसी कारण लक्ष्मणजीने जनकजीका रामजीको 'मणि' समान जानना कहा और स्वयं उनके स्वरूपको अच्छी तरह जानते हैं इसीसे अपना रामजीको 'भानु' समान जानना कहते हैं। पुनः भाव कि जब 'रघुकुल' कहा तब रामजीको 'मणि' कहा और जब 'भानुकुल' कहा तब रामजीको भानु कहा। इस प्रकार उत्तरोत्तर बड़ाई कही। रघुसे भानु अधिक हैं। यदि रघुकुलके भानु कहें तब 'भानुकुल' के क्या कहें? भानुसे अधिक प्रकाश किसमें है? यदि भानुकुलके मणि कहते तो इसमें रामजीकी हीनता होती, समझा जाता कि तेजमें अपने कुलसे हीन हैं। अतः जब रघुकुलको शोभित करना कहा तब मणिरूप कहा और जब भानुकुलको शोभित करना कहा तब भानुरूप कहा। (पुनः भाव कि भानुके पराक्रमको कौन कह सकता है, कमलके पराक्रमके सामने ही यह धनुष कुछ नहीं है। जिस कमलकुलके आप भानु हैं, उसीका मैं कमल हूँ। सब लोग कमलका पराक्रम देखें, भानुको पराक्रम दिखानेकी आवश्यकता नहीं। वि० त्रि०) (ग) *'कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू।'* इति। अभिमान

तमरूप है, यथा—*'मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान'*। *'भानुकुल पंकज भानू'* कहकर *'न कछु अभिमानू'* कहनेसे सूचित किया कि जैसे सूर्योदयसे किंचित् भी अन्धकार नहीं रह जाता इसीसे आपके ही प्रतापसे मैं कुछ अभिमानसे नहीं कहता, स्वभावसे ही कहता हूँ। पुनः भाव कि रामजीको अभिमान नहीं भाता, यथा—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥'* (७। ७४) इसीसे अभिमानरहित वाणी बोलना कहा। पुनः भाव कि आगे जो वचन कहते हैं उनसे अभिमान पाया जाता है इसीसे प्रथम ही उसका निराकरण किये देते हैं कि इसे अभिमान न समझियेगा।

टिप्पणी—२ (क) *'जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं'* इति। आज्ञा पानेका भाव कि श्रीरामजी समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, यथा—*'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं',* इसीसे बिना उनकी आज्ञाके ब्रह्माण्डका नाश नहीं कर सकते। और सेवकका धर्म ही है कि बिना स्वामीकी आज्ञाके ऐसा कोई काम न करे। (ख) *'कंदुक इव'* कहनेका भाव कि गेंद खेलना बालकोंका खेल है। उसी तरह गेंदके खेल-सरीखा खेल ही खेलमें ब्रह्माण्डको उठा लूँगा, यथा—*'द्रोन सो पहार लियो ख्यालही उखारि कर कंदुक ज्यौं कपिखेल बेल को सो फलु भो'* (हनुमान बाहुँक)। ☞भारी वस्तु खेलमें उठानेको जहाँ-जहाँ कहा है तहाँ-तहाँ प्रायः सर्वत्र कंदुककी ही उपमा देते हैं। पुनः, *'कंदुक इव'* कहनेसे यह भी पाया गया कि लक्ष्मणजीने अपने बलकी अधिक प्रशंसा नहीं की, क्योंकि वे तो सारे ब्रह्माण्डको एक रजकणकी तरह धारण किये हुए हैं, यथा—*ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी'*। (ग) *'ब्रह्मांड उठावौं'*। भाव कि ब्रह्माण्ड सबका आधार है और सब आधेय हैं, जब आधार ही उठा लिया तब आधेय किस गिनतीमें है? धनुष भी इसी ब्रह्माण्डके तिलभर भागमें है। (घ) भगवान् उठानेकी आज्ञा न देंगे, इसीसे *'जौं'* संदिग्ध शब्द कहा। अभी प्रलयका समय नहीं है कि ऐसी आज्ञा दें।

काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि* तोरी॥५॥
तव प्रताप महिमा भगवाना†। को‡ बापुरो पिनाक पुराना॥६॥

अर्थ—(और उसे) कच्चे घड़ेके समान तोड़-फोड़ डालूँ। सुमेरु पर्वतको (भी) मूलीके समान तोड़ सकता हूँ॥ ५॥ हे भगवन्! यह सब आपके प्रतापकी महिमासे। उसके (प्रतापमहिमाके) सामने यह बेचारा पुराना धनुष क्या है?॥ ६॥

टिप्पणी—१ ब्रह्माण्डको उठा लेनेमें *'कंदुक इव'* और फोड़नेमें *'काचे घट जिमि'* कहनेका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्डको उठा लेना तो मेरे लिये लड़कोंका गेंदका खेल है; पर गेंदके भीतर अवकाश नहीं है, वह फूटता नहीं है। इसीसे फोड़नेमें कच्चे घड़ेके समान कहा। अर्थात् ब्रह्माण्डको दबा दूँ तो वह टुकड़े-टुकड़े हो जाय। दोनोंमें कुछ भी परिश्रम नहीं—न उठानेमें, न तोड़नेमें। उठानेमें कच्चे घड़ेके समान न कहा क्योंकि उसमें फिर यह भाव न आता कि खेल-सरीखा उठा लेंगे, घट लड़कोंके खेलकी चीज नहीं है। कच्चे घड़ेकी तरह तोड़ना कहा क्योंकि वह दबानेसे ही फूट जाता है, पक्के घड़ेके फोड़नेमें कुछ कठिनता होती है। [प्र० सं० में *'डारौं फोरी'* का भाव यह लिखा गया था कि जब ब्रह्माण्ड उठा ही लिया गया तब तो अवकाश (शून्य) ही रह गया, पटकें किसपर? इससे कहते हैं कि उसे हाथसे दाबकर ही फोड़ डालूँगा।]

शंका—जब ब्रह्माण्ड उठाकर फोड़ डालना कहा तब तो सुमेरु भी उसीमें आ गया, उसका तोड़ना पृथक् क्यों कहते हैं? ब्रह्माण्डके नाशसे तो सुमेरुका भी नाश हो चुका?

समाधान—(१) जनकजीने उठाना, चढ़ाना और तोड़ना तीनों कहे थे, यथा—*'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलभर भूमि न सकेउ छड़ाई॥'* यहाँ जनकजीकी तीनों बातोंका उत्तर पृथक्-पृथक् दे रहे हैं।

* इव-१७०४, छ०। जिमि १६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। † बलवाना—१७०४। ‡ का०-१७०४, रा० प०, १७६२, छ०, को० रा०। को—१६६१, १७६२, पं०।

'तिल भर भूमि न सकेउ छड़ाई' का उत्तर दिया कि धनुषको हटानेकी भली चलाई, जिसके आश्रित यह धनुष है, हम उसीको खेल-ही-खेलमें उठा लें। और जो कहा कि *'रहौ……तोरब भाई'* उसका उत्तर है कि धनुष क्या है, हम तो सुमेरुहीको मूलीकी तरह तोड़ डालें। ब्रह्माण्डको उठाना कहा और सुमेरुको तोड़ना कहा। गीतावलीमें सुमेरुको चढ़ानेको कहा है, यथा—*'को बापुरो पिनाकु मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं।'* (१। ८७) इसीसे यहाँ 'सुमेरु' का तोड़नामात्र कहा, चढ़ाना गीतावलीमें कह ही चुके हैं, वहींसे ग्रहण कर लें। इस प्रकार तीनोंका उत्तर हो गया।

(२) ☞ अथवा तीन बातें कहकर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकारकी गुरुता दिखायी। ब्रह्माण्ड उत्तम गरू (भारी) है सो उसे गेंद-समान उठा लूँ, सुमेरु मध्यम गरू है अतः उसे मूलीकी तरह तोड़ना कहा और धनुष निकृष्ट है सो उसके बारेमें कहते हैं कि *'को बापुरो पिनाक पुराना।'*

अथवा (३) बंदीजनने जो कहा था कि *'गरुअ कठोर बिदित सब काहू'* उसका उत्तर देते हैं कि गुरुता और कठोरता दो गुण धनुषमें कहे सो ब्रह्माण्डके समान तो कोई वस्तु गरू नहीं है और न मेरुके समान कोई वस्तु कठोर है, हम ब्रह्माण्डको ही उठा लें और मेरुको ही तोड़ डालें, यह धनुष क्या हकीकत रखता है? [या (४) यों कह सकते हैं कि जनकजीने तीन प्रकारका बल कहा। उसीका उत्तर तीन बातोंसे दिया—*'डारौं फोरी'* यह उत्तम, *'मेरु नवावौं'* (गीतावलीके अनुसार) यह मध्यम और *'ब्रह्माण्ड उठावौं'* यह निकृष्ट। *'को बापुरो……'* अर्थात् यह तो महानिकृष्ट बलकी बात है [यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलङ्कार' है। और जनकजीके वचनोंके प्रतिकारकी उत्कट इच्छा प्रदर्शित करना 'अमर्ष संचारी भाव' है—(वीर)]।

टिप्पणी—२ (क) *'तव प्रताप महिमा भगवाना'* इति। पहले लक्ष्मणजीने कहा कि *'कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू'* वही यहाँ चरितार्थ है। उन्हें अपने बलका अभिमान नहीं है, श्रीरामजीके प्रतापका बल है। ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, पालन और संहार श्रीरामजीके बलसे होता है, यथा—*'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥'* इसीसे लक्ष्मणजीने ब्रह्माण्डका नाश करना उनके प्रतापसे कहा। (ख) *'भगवाना'* का भाव कि आप ही उत्पत्ति और प्रलयके कर्त्ता हैं। आपके प्रतापसे यदि मैं इतना कर डालूँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?—**'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।……'** पिनाक पुराना है इसीसे *'बापुरो'* कहा, अर्थात् उसमें क्या गुरुता-कठोरता है। [*'पुराना'* में मतभेद है। किसीके मतसे यह पिनाक देवरातजीके समयसे इस कुलमें है और दक्षके समयमें इसका निर्माण हुआ। और किसीके मतसे त्रिपुरासुरके वधके समयसे यह है, काव्यार्थापत्ति अलङ्कार है।]

नोट—दोहा २५१ में दिये हुए श्लोकके उत्तरमें लक्ष्मणजीका यह वचन हनु० नाटक अङ्क १ श्लोक ११ में यह है—**'देव श्रीरघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो मेर्वादीनपि भूधरान्न गणये जीर्णः पिनाकः कियान्। तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः॥'** अर्थात् देव! रामचन्द्रजी! बहुत कहनेसे क्या है? मैं आपका दास लक्ष्मण हूँ जो मेरु आदि पर्वतोंको भी कुछ नहीं गिनता तो यह पुराना धनुष क्या? आज्ञा दीजिये और दासका बल और कौतुक देखिये। इसे उठाने, नवाने, हिलाने, ले जाने और टुकड़े-टुकड़े करनेको भी मैं समर्थ हूँ। पर मानसमें यहाँ *'तव प्रताप……'* के लालित्यको विचारिये।

श्रीलमगोड़ाजी—१ परिस्थितिका प्रभाव देखा! कोलाहलके संकोचमें रामजी न उठे थे, और राजा जनक धनुष न टूटनेसे अकुला उठे। उनसे भूलके कारण (और वह भूल भी आकुलताके कारण हुई) *'परिताप'* ने कुछ कटुरूप धारणकर कठोर शब्द कहलाये। नाटकीयकलाका मजा देखिये, इस भूलको लक्ष्मणजी जान-बूझकर अपमान करना समझते हैं। *'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी।'* उनका माप वीर क्या रौद्ररूप धारण करनेको तैयार है। २ नाटकीयकला और महाकाव्यकलाके एकीकरणका लुत्फ देखिये। नाटकीयकलामें प्रत्युत्तररूप यह 'स्वप्रशंसा' अतिशयोक्ति रूपको भी धारण किये हुए भी अनुचित नहीं और महाकाव्यकलामें तो लक्ष्मणजी *'कृतांतभक्षक जन त्राता'* हैं ही।

नाथ जानि अस आयेसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ॥ ७॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! ऐसा जानकर आज्ञा होवे। मैं कौतुक करूँ (खेल दिखाऊँ) उसे भी देखिये॥ ७॥ धनुषको कमलकी डण्डीके समान चढ़ा दूँ और (सत्य ही) सौ योजनतक लिये दौड़ता चला जाऊँ॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'जानि अस'*** अर्थात् यह जानकर कि हमारे बलप्रतापसे ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठा सकते हैं, मेरुको मूली-सरीखा तोड़ सकते हैं तब यह धनुष विचारा क्या है। धनुष तोड़नेकी आज्ञा माँगते हैं। यहाँ ***'जौं'*** संदिग्ध वचन नहीं कहते परञ्च जब ब्रह्माण्डके नाशकी आज्ञा माँगी थी तब ***'जौं'*** कहा था; कारण कि उसके नाशकी आज्ञा रामजी न देंगे, उस आज्ञाके मिलनेमें संदेह था और धनुष तोड़नेकी आज्ञामें संदेह नहीं है। यह समय तोड़नेका है ही। (ख) ***'कौतुक करौं'*** इति। प्रभु कौतुकी हैं ही, यथा—***'पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा॥'*** (६। ९१), ***'हँसे राम श्रीअनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता॥'*** (६। ११६) इसीसे कौतुक करके दिखानेको कहते हैं। पुनः भाव कि धनुषका उठाना, चढ़ाना और तोड़ना यह मेरा कौतुक है, इसमें मुझे कुछ परिश्रम न होगा। आज्ञाभरकी देर है, मैं कर दिखाऊँगा। पुनः भाव कि मैं जो धनुष उठाने, चढ़ाने और तोड़नेको कहता हूँ वह कुछ जनकजीकी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये नहीं वरञ्च कौतुक दिखानेके लिये। प्रतिज्ञाके लिये ऐसा करना तो मेरे लिये पाप है, यथा—***'मेरो अनुचित न कहत लरिकाई बस, पन परिमित और भाँति सुनि गई है। नतरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाए चाप देतों पै दिखाइ, बल फल पापमई है।'*** (गी० १। ८३। २) अपने स्वामीको तमाशा दिखानेके लिये धनुषको तोड़नेसे पाप नहीं है। पुष्पवाटिकामें श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कह चुके हैं कि सीताजी हमारी शक्ति हैं, यथा—***'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥'''''''''*** इत्यादि। इसीसे लक्ष्मणजी कहते हैं कि प्रतिज्ञाके निमित्त तोड़नेसे मुझे पाप लगेगा। (पुनः राजाओंको कौतुक देखना प्रिय है, अतः आज्ञा हो तो मैं कौतुक करूँ)।

टिप्पणी—२ (क) ***'कमलनाल जिमि'*** अर्थात् बिना प्रयासके, यथा—***'भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल।'*** (ख) ***'सत जोजन'*** उपलक्षण है। अर्थात् अनन्त योजनतक। शत, सहस्र इत्यादि अनन्तवाची हैं। (ग) ☞ जनकजीके ***'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलभर भूमि न सकेउ छड़ाई॥'*** इन वचनोंका उत्तर यहाँ दे रहे हैं। ***'रहौ चढ़ाउब'*** का उत्तर ***'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावौं'***, ***'तिलभर भूमि''''''*** का उत्तर ***'जोजन सत प्रमान लै धावौं'*** है। और तोड़नेका उत्तर आगे देते हैं कि ***'तोरौं छत्रकदंड''''''''''।'*** (घ) कमलनाल वह है कि जिसमें कमलका फूल रहता है। जनकजीने प्रथम चढ़ाना कहा, इससे इन्होंने भी प्रथम उसीको कहा। अथवा ब्रह्माण्ड और सुमेरु प्रथम कोटि है और पिनाक दूसरी कोटि है। प्रथम कोटिमें चढ़ाना न कहा था, इसीसे दूसरी कोटिमें प्रथम ही उसे कह दिया।

संत श्रीगुरुसहायलालजी—भाव कि 'जो मैं आपका सच्चा दास हूँ तो यथावत् प्रमाण ब्रह्माण्डोंका है उसके लयके लिये दौड़ परूँ, ले चलने और तोड़नेकी क्या बात है? वा कमलनालकी तरह बिना किंचित् श्रमके चढ़ा दूँ और यह कौन बड़ा है जो सैकड़ों योजन प्रमाणका भी हो तो भी लेकर दौड़ा चला जाऊँ।' वा 'शपथ करके कहते हैं कि जो आपके सच्चे दासोंमें मेरा प्रमाण हो तो कमलनालकी तरह कि जो बहुत कोमल है बिना रंचक परिश्रम चापको चढ़ाऊँ और लिये हुए जाऊँ, औरोंकी तरह काला मुँह करके न जाऊँ। यथा—***'सुनहु भानुकुलकमल भानु जो अब अनुसासन पावउँ।''''''''तौ प्रभु अनुग कहावउँ॥'*** (गी० १। ८७)। **जोजन सत प्रमान**=सौ योजन प्रमाण करके=सौ योजनसे लेकर जितना प्रमाण आप कर दें।=जो आपका जन सच्चा होऊँ तो जितना प्रमाण आप कर दें उतना।'

☞ मिलान कीजिये।—***'देखौं किन किंकर को कौतुक क्यों कोदंड चढ़वौं। लै धावौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुग कहावौं।'*** (गी० १। ८७)

दो०—तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥२५३॥

शब्दार्थ—छत्रक दंड=कुकुरमुत्ता, भुइफोर, भुइगर्जन, भूमिका फूल। यह वर्षाकालमें आप-से-आप उपजता है।

अर्थ—हे नाथ! आपके बल-प्रतापसे मैं उसे कुकुरमुत्ताकी तरह तोड़ डालूँ। जो ऐसा न करूँ तो प्रभो! आपके चरणोंकी सौगन्ध धनुष और तरकशपर हाथ न धरूँ अर्थात् उसे न छुऊँ॥ २५३॥

नोट—आधुनिक प्रतियोंमें *'भाथ'* का पाठान्तर 'हाथ' मिलता है। *'कर'* में तरकश नहीं धारण किया जाता, सम्भवत: इसीसे *'भाथ'* का 'हाथ' कर दिया गया। गौड़जी कहते हैं कि 'धरना छूनेके अर्थमें आता है। **कर धरौं**=हाथसे छुऊँ। केवल छुऊँ या *'धरौं'* कहनेसे काम चल जाता। *'कर'* की क्या आवश्यकता थी? यहाँ *'कर'* शब्द जानबूझकर विशेष जोर देनेके लिये लाया गया है। इसी *'कर'* से तो ब्रह्माण्डके उठाने, तोड़ने और चापके चढ़ाने और तोड़नेकी बात कही। *'धनु भाथ'* क्यों? *'धनु हाथ'* क्यों नहीं? भाथ तो बाणोंका घर है, जब भाथ ही न छुऊँगा तब बाणकी क्या कथा है? इसलिये *'कर न धरौं धनु भाथ'* ही उत्तम पाठ है। *'धरौं'* का अर्थ यहाँ 'धारण करूँ' नहीं है। वीरकविजीका मत है कि 'करके संयोगसे भाथ यद्यपि तरकशको कहते हैं, पर यहाँ बाणहीकी अभिधा पायी जाती है, त्रोणकी नहीं।' इन्होंने 'न धारण करूँगा' अर्थ किया है। वि० त्रि० ने 'न उठाऊँगा' अर्थ किया है।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कोटिमें ब्रह्माण्डको उठाना और सुमेरुको तोड़ना श्रीरामजीके प्रतापसे कहा—*'तव प्रताप महिमा भगवाना'*। अतएव दूसरी कोटिमें धनुषका तोड़ना भी प्रभुके प्रतापसे कहा। यहाँ भी यदि *'तव प्रताप बल नाथ'* न कहते तो समझा जाता कि ब्रह्माण्डका उठाना इत्यादि प्रभुके बलसे था और धनुष अपने बलसे तोड़ेंगे। अतएव *'तव प्रताप'*.........' कहकर जनाते हैं कि मैं तो धनुषके योग्य भी नहीं हूँ, पर आपका प्रताप सब कुछ करा दे सकता है। (ख) [ऊपर सुमेरुको मूली-सरीखा तोड़नेको कहा था, सो मूली कुछ पोढ़ी होती है। और *'पिनाक'* को बापुरा और पुराना कहा था। अतएव उसके योग्य *'छत्रकदंड'* का दृष्टान्त दिया क्योंकि यह छूते ही टूटता है (प्र० सं०)]। पुनः जब चापको कमलनाल-सम चढ़ानेको कहा तब कमलनालसे भी कोमल जो छत्रकदण्ड है उसके समान तोड़नेको कहा।

टिप्पणी—२ (क) *'जौ न करौं'* अर्थात् यदि धनुषको कमलनालकी तरह न चढ़ा सकूँ, सौ योजन दौड़ता हुआ न ले जाऊँ और छत्रदण्ड-समान न तोड़ दूँ तो धनुष न टूटनेपर धनुषके त्यागकी प्रतिज्ञा की। (ख) प्रथम कविने कहा कि लक्ष्मणजी *'बोले गिरा प्रमान।'* यहाँ लक्ष्मणजीने स्वयं ही अपनी गिराकी प्रमाणता पुष्ट कर दी—*'जौं न करौं'*......।' [*'कर न धरौं धनु भाथ'* अर्थात् क्षत्रियपना, क्षत्रिय कहलाना छोड़ दूँ—(पाँड़ेजी)।]

☞लङ्कामें लक्ष्मणजीने मेघनादके मारनेकी प्रतिज्ञा की, यथा—*'जौं तेहिं आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥'* (६। ७४) मेघनादका वध रघुनाथजीकी सेवा है। (उन्होंने उसके वधकी आज्ञा भी दी थी) इससे वहाँ *'सेवक न कहावउँ'* यह प्रतिज्ञा की। पुनः लक्ष्मणजीने श्रीभरतजीको श्रीरामजीका शत्रु समझा तब शत्रुको मारना यह रामजीकी सेवा है; अतः वहाँ भी ऐसा ही कहा, यथा—*'आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥'* (२। २३०) और यहाँ धनुषका तोड़ना क्षत्रियपना है, इससे यहाँ धनुष भाथके त्यागकी प्रतिज्ञा की।

(ग) आदिमें श्रीरामपदमें मस्तक नवाकर बोले यथा—*'नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान।'* अन्तमें रामचरणकी शपथ की—*'प्रभुपद सपथ कर'*.......।' इससे जाना गया कि श्रीरामचरणकमल ही आपके सर्वस्व हैं।

वि० त्रि०—विश्वास दिलानेके लिये प्रभु-चरणकी शपथ लेते हैं, क्योंकि इसे तोड़ना नहीं है। ब्रह्माण्ड

उठाने, फोड़ने और मेरुको तोड़नेके विषयमें शपथ नहीं लेते, उसे कर दिखानेके लिये प्रस्तुत हैं, केवल आज्ञाकी देर है; पर धनुष को छूना नहीं है, अतः अपनेमें ऐसा सामर्थ्य होनेकी शपथ लेते हैं।

लषन सकोप बचन* जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ १॥
सकल लोग† सब भूप डेरानें। सिय हिय हरषु जनकु सकुचानें॥ २॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजी क्रोध भरे वचन बोले तब पृथ्वी डगमगा उठी (हिलने लगी) और दिशाओंके हाथी डोलने लगे (अर्थात् उनको अपनी जगहपर टिके रहना, पैर जमाये रहना कठिन हो गया; वे डावाँडोल हो गये, काँप गये इत्यादि)॥ १॥ सभी लोग (पुरवासी) और सभी राजा डर गये। श्रीसीताजीके हृदयमें हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'लषन सकोप बचन'''''* इति। यहाँतक लक्ष्मणजीके मन, तन, और वचन तीनोंमें कोप दिखाया *'माषे लखन'* यह मनका *'कुटिल भै भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें'* यह तनका और *'बोले गिरा''''''सकोप बचन'* यह वचनका कोप है। उनका अवतार भूभार हरण करनेके लिये है, यथा—*'सेष सहस्र सीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभय टारन॥'* (१७७) वे ही ब्रह्माण्ड नाश करनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं इसीसे पृथ्वी काँप उठी कि अब हमारा रक्षक कौन है? (ख) *'जब बोले'* का भाव कि जबतक मनमें और तनमें क्रोध रहा तबतक पृथ्वी न काँपी, क्योंकि तब कोई यह न समझ पाये थे कि क्यों और किसपर क्रोध हो रहा है; पर जब सकोप वचन बोले कि ब्रह्माण्डको कच्चे घड़ेके समान फोड़ डालूँगा तब पृथ्वी यह जानकर कि ये हमारा ही नाश करनेको हैं—डरी, काँपने लगी। दिग्गज भी घबड़ाकर काँप उठे (कारण कि क्रोधमें भी ये अप्रमाण नहीं बोलते, यथा—*'अति सरोष माषे लखनु लखि सुनि सपथ प्रमान। सभय लोक सबलोक पति चाहत भभरि भगान॥'* (२। २३०) दिग्गजोंके काँपनेसे पृथ्वी हिल भी गयी और पृथ्वीके हिलनेपर *'सकल लोग सब भूप डेराने।'* (ग) *'सकल लोग सब भूप डेराने'* इति। सबका डरना पृथ्वीके डगमगानेके पश्चात् कहकर जनाया कि लक्ष्मणजीके वचन सुनकर राजा न डरे थे, [वे समझ रहे थे कि यह सब इनकी डींग है, कलके छोकरे वा लौंडे हैं, भला ऐसा कभी कर सकते हैं कि ब्रह्माण्डको फोड़ दें, सुमेरुको तोड़ दें? भला, संसारमें कोई भी वीर ऐसा है जो इनमेंसे कोई एक भी काम कर सकता हो? कदापि नहीं]। पर जब इनके वचनपर पृथ्वी काँपी तब सबको इनके वचनपर विश्वास हो गया कि जिनके वचनका यह प्रभाव है वे क्या नहीं कर सकते? इन्होंने ब्रह्माण्डका नाश करनेको कहा है, सत्य ही ये उसका नाश करना चाहते हैं, अब हम मरे यह डर समा गया। यदि पृथ्वी न काँपती तो यह विश्वास न होता। सब यही समझते रहते कि वीर लोग सदा इसी तरह अपना बल बखान किया करते हैं (उनके वचनोंको प्रमाणित करनेके लिये, उनकी सत्यप्रतिज्ञताका विश्वास सबके हृदयमें जमानेके लिये ही *'डगमगानि महि''''''*।' इसी कारण पहले *'डगमगानि महि '* कहा। प्र० सं०।)

टिप्पणी—२ (क) *'सकल लोग'* में तो *'सब भूप'* का भी ग्रहण हो जाता है तब 'सब भूपों' का डरना पृथक् क्यों कहा गया? कारण कि रङ्गभूमिमें—धनुषयज्ञशालामें पृथक्-पृथक् दो कोटियाँ लोगोंकी बराबर कहते आये हैं—एक तो पुरवासियोंकी, दूसरे राजाओंकी। इनको पूर्व भी अलग-अलग कहते आये हैं। यथा—*'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥''''''सीय चकित चित रामहि चाहा। भये मोह बस सब नरनाहा॥'* (२४८। ४। ७) तथा यहाँ भी दोनोंका अलग-अलग डरना कहा। यदि यहाँ *'सकल लोग डेराने'* लिखते और *'भूप डेराने'* न कहते तो समझा जाता कि राजा नहीं

---

* १६६१ की पोथीमें 'जे' पाठ है। यदि 'जे' पाठ ही शुद्ध हो तो उसका अर्थ 'ज्योंही या जैसे ही' होगा। ऐसा प्रयोग कहीं और देखनेमें नहीं आया। भा० दा० का० पाठ 'जब' है। † 'लोक' भा० दा०। 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी है। भुवनका अर्थ लें तो भी हो सकता है। अयोध्याकाण्डमें वचनसे लोक डर गये हैं।

डरे। (ख) *'सिय हिय हरषु'* हर्ष यह समझकर हुआ कि जिनके सेवकमें यह सामर्थ्य है, उनके सामर्थ्यका तो कहना ही क्या? वे धनुष अवश्य तोड़ेंगे। जनक सकुचा गये यह सोचकर कि हमसे न बना जो हमने ऐसी बात कह डाली। क्रोधसे बोलनेपर अनेक विरोधी कार्योंका प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है।

नोट—श्रीजनकमहाराज अपनी भूल समझकर सकुचा गये। मुनिसे इनका बल और पराक्रम सुन चुके थे तब भी माधुर्यमें भूल गये। लक्ष्मणजीके उत्साहवर्द्धक निराशा-भंजन वचन सुननेसे सीताजीको हर्ष हुआ। इनकी वाणी श्रीरामजीके प्रतापको दर्शित करने और बढ़ानेवाली एवं निर्भय है। अत: गुरु आदि सभीको आनन्द मिला (रा० प्र०, पंजाबीजी)।

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं॥ ३॥
सयनहि रघुपति लषनु नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे॥ ४॥

अर्थ—गुरु (विश्वामित्रजी), श्रीरघुनाथजी और सब मुनि मनमें प्रसन्न हुए और बारम्बार पुलकित होने लगे॥ ३॥ श्रीरघुनाथजीने इशारेसे लक्ष्मणजीको मना किया और प्रेमसहित अपने पास बैठा लिया॥ ४॥

☞ अन्तर-नाटकीयकला। (Inter Plot) का लुत्फ जगह-जगह देखते जाइये। किस सुन्दरतासे इस कोपका प्रभाव सबपर दिखा दिया। विशेषत: चरित्र-संघर्ष विचारणीय है। जनकजीका 'संकोच' और गुरु तथा रामजी आदिका *'मुदित पुनि पुनि पुलक'।* फिर रामजीका 'सयनहि निवारना' और प्रेमसे 'निकट बैठाना' भक्ति और प्रेमकी जान तो हैं ही, भावमर्मज्ञता और सूक्ष्म प्रगतिचित्रण (फिल्मकला) भी इनपर निछावर होते हैं।

टिप्पणी—१ (क) *'मन माहीं'* इति। श्रीलक्ष्मणजीने श्रीजनकजीके वचनोंका बड़े जोरसे खण्डन किया जिससे वे इस समय सकुचा गये हैं। इसीसे सबने अपना हर्ष मनमें रखा। बाहर प्रकट न किया। इस समय यदि मुनि, गुरु और श्रीरामजी ऊपरसे भी प्रसन्नता दिखाते तो रस जाता रहता, जनक महाराजका प्रकटरूपसे और भी अपमान होता, ऐसे ही बड़ेका अपमान हो गया है; अत: इन्होंने अपने हर्षको मनहीमें रखा। यहाँ लक्ष्मणजीका प्रशंसा भी न की, क्योंकि प्रशंसा भी इस समय उचित न थी। (ख) *'पुनि पुनि पुलकाहीं'* का भाव कि लक्ष्मणजीकी प्रत्येक बात प्रेमसे पुलकित कर देनेवाली है। एक तो यह कि अभी लड़के हैं तो भी ऐसे मौकेकी बात कही कि 'शायद बायद'। ये बातें रामजीके मुखसे निकलतीं तो शोभाको न प्राप्त हो सकतीं, लक्ष्मणजीके ही योग्य थीं। श्रीजनकजीके अपमानसूचक कोई वचन इसमें नहीं हैं; उनके प्रति कोई अनुचित बात नहीं कही गयी। जो कुछ कहा सब यथार्थ ही कहा गया। अपना बल कहा सो उसमें भी श्रीरघुनाथजीका ही प्रताप मुख्य रखा, इत्यादि प्रत्येक बातको (अर्थात् अवसरप्राप्त क्रोध, अप्रतिम तेजस्विता, अमोघ वीर्य और अलौकिक विवेकको—वि० त्रि०) समझ-समझकर बार-बार पुलकित हो रहे हैं। (ग) *'मन माहीं मुदित भए'* यह मनका हाल और *'पुनि पुनि पुलकाहीं'* यह तनका हाल कहा। वचनका मौका नहीं है, इसीसे वचन कहना न लिखा। विश्वामित्रके कहनेका जो समय है उसे आगे कहते हैं। (घ) अनेक उपमाओंका एक ही धर्म *'मुदित'* कथन करना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ (क) *'सयनहि रघुपति लषनु नेवारे'* इति। इशारेसे ही निवारण करनेका भाव—(१) प्रथम कह आये हैं कि *'मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं'* अत्यन्त प्रेममें वचन नहीं निकलते। (२) इस समय लक्ष्मणजीने अपनी वीरता एवं अपने बलकी प्रशंसा की है, बल बखाना है, ऐसी हालतमें 'बैठो' इतना ही मात्र कह देनेसे बलकी सारी प्रशंसा धूलमें मिल जाती, सारे बलका निरादर सूचित होता, इसीसे मुँहसे कुछ न कहकर इशारा भर किया। (३) सभामें अपने मुखसे सबके सामने यह न कह सकते थे कि सीताजी हमारी शक्ति हैं, तुम्हें धनुष न तोड़ना चाहिये। पुष्पवाटिकामें कुछ संकेत इसका कर चुके हैं। पुन:, [(४) 'मुखसे कहकर बिठाते तो लोग समझते कि अपना बल प्रकट करनेके लिये उन्होंने ये वचन कहलाये हैं, इससे गम्भीरतामें दोष आता।' (पं०) (५) कुटिल राजा खुश होंगे कि अब लक्ष्मणजी

तोड़नेको हैं, दोनों भाइयोंमें अब वैमनस्य हो जानेसे युद्ध होगा, अतः इशारेसे मना करके उनको बिठाकर यह दिखाया कि ये हमारे अधीन हैं, आज्ञामें हैं। (पं०) अथवा, (६) इस तरह लोगोंको प्रतीति करायी कि जिनके वचनसे पृथ्वी हिल गयी उनसे इनका बल कहीं अधिक होगा तब तो इनके इशारेमात्रसे वे चुप हो गये। (पं०) (७) यहाँ धनुष तोड़ना और विवाह करना एक बात है। बिना बड़ेकी आज्ञाके विवाहके लिये स्वयं अग्रसर होना ठीक नहीं, पिताके स्थानमें मुनिजी हैं। वे कुछ कह नहीं रहे हैं। अतः बैठ जाओ। यह रोकना अप्रसन्नताका परिणाम नहीं है इसलिये प्रेमके सहित निकट बैठाया। भाव कि तुम्हारी इच्छाको मैं पूरी करूँगा। (वि० त्रि०)]। (ख)—*'प्रेम समेत निकट बैठारे'* इति। इससे जनाया कि पहले मुनिके एक ओर लक्ष्मणजी थे दूसरी तरफ रामजी। अब अपने पास बैठा लिया, यथा—*'भूपति किसोर दुहुँ ओर बीच मुनिराज देखिबेको दाउँ देखौं देखिबो बिहाइ कै।'* (गी० १। ८२) यह भी जनाया कि लक्ष्मणजीने खड़े होकर ये सब बातें आवेशमें कही थीं; वहाँ इनका खड़ा होना न कहा गया था, यहाँ *'बैठारे'* कहकर उसे जना दिया। पुनः अपने बगलमें बिठानेसे उनका आदर हुआ। यथा—*'अति आदर समीप बैठारी॥'* (६। ३७)

मिलान कीजिये—*'बिहँसि हिय हरषि हटके लषन राम सोहत सकोच सील नेह नारि नई है॥ ३॥ 'सहमी सभा सकल जनक भए बिकल'''''''॥'* (गी० १। ८३) *'हरषे पुर नर नारि सचिव नृप कुँवर कहे बर बैन। मृदु मुसुकाइ राम बरज्यो प्रिय बंधु नयन की सैन।'* (गी० १। ८७)—मानसमें इनसे विशेष गम्भीरता दरसायी है।

बिस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी॥ ५॥
उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥ ६॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी शुभ समय जानकर अत्यन्त प्रेमभरी वाणी बोले। हे राम! उठो, शिवजीका धनुष तोड़ो (और) हे तात! जनकका संताप मिटाओ॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'शुभ समय' अर्थात् सुन्दर मङ्गलमय सिद्धियोगवाला उत्तम मुहूर्त्त जिसमें कार्य अवश्य हो। पुनः 'शुभ समय' यह कि सब राजा पुरुषार्थ करके हार गये, [अब किसीको यह कहनेका मौका न रह गया कि रामचन्द्रजीने पहले ही तोड़ दिया, नहीं तो हम अवश्य तोड़ डालते। अब धनुष तोड़नेसे श्रीरामजी त्रैलोक्य विजयी कहलायेंगे और त्रैलोक्यमें इनकी कीर्त्ति होगी। (प्र० सं०) पुनः शुभ इससे कहा कि इस समय सभाभरमें यही चर्चा व्याप्त है और सभीकी लालसा है कि धनुष टूटे। (पाँ०) वा, लक्ष्मणजीके वचनसे वीरताका उदय हुआ, अब उसको प्रकट करनेका अवसर है, अतः इसे शुभ समय कहा। (वै०)] (ख) *'अति सनेहमय बानी'* इति। भाव कि धनुष तोड़नेकी आज्ञा देते हुए एवं देनेमें मुनिको 'अत्यन्त स्नेह' हुआ। जब श्रीरामचन्द्रजी धनुष तोड़ने चले तब सबोंको 'स्नेह' हुआ, यथा—*'चलत राम सब पुरनरनारी। पुलक पूरि तन भए सुखारी॥'* (२५५। ६), *'रामहि प्रेमसमेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ। सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥'* (२५५), *'प्रभुतन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥'* (२५९। ७) (सीताजी), *'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड। पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांड॥'* (२५९) तथा विश्वामित्रजीको उठकर धनुष तोड़नेकी आज्ञा देनेमें स्नेह हुआ (सबको स्नेह हुआ और इनको अति स्नेह) पुनः भाव कि लक्ष्मणजीके वचन सुनकर 'स्नेह' हुआ और रामजीको धनुष तोड़नेकी आज्ञा देनेमें अति स्नेह हुआ। पुनः (ग) *'अति सनेहमय बानी'* बोलनेका भाव कि वहाँ बोलनेका मौका न था, अब मौका बोलनेका है।

टिप्पणी—२ (क) *'उठहु राम, मेटहु तात'* यह अति स्नेहमयवाणीका स्वरूप दिखाया कि *'राम'* और *'तात'* दो (प्यारके) सम्बोधन दिये। दोनोंमें कितना प्रेम टपक रहा है! [पुनः *'उठहु'* का भाव कि मेरी आज्ञाकी प्रतीक्षामें लक्ष्मणजीके इतना कहनेपर भी नहीं उठते हो, तो लो मैं आज्ञा देता हूँ, जनकजीके परितापके मिटानेको लक्ष्यमें रखकर धनुष तोड़ो। भवचापके तोड़नेकी आज्ञा देकर सारा प्रातिभाव्य

(जिम्मेदारी) मैं अपने ऊपर लेता हूँ (वि० त्रि०)]। (ख) *'मेटहु तात जनक परितापा'* इति। जैसे बन्दीजनोंने राजाओंको *'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥'* यह लाभ दिखाकर धनुष तोड़नेको कहा था वैसा लाभ दिखाकर महर्षि विश्वामित्रजी श्रीरामजीको धनुष तोड़नेको नहीं कहते, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी परमेश्वर हैं, पूर्णकाम हैं, उनको लोभ दिखाना अज्ञान है। जो वस्तु किसीके पास नहीं होती उसीका उसको लोभ होता है और यहाँ तो रामजी 'सकल लोकपति स्वामी' हैं और सीताजी उनकी परम आद्याशक्ति हैं ही। मुनि यह जानते हैं, इसीसे जनकका 'परिताप' मिटानेके लिये धनुष तोड़नेको कहते हैं। क्योंकि 'भक्तका संताप मिटानेमें भगवान्‌के उत्सव होता है। जैसे *'त्रिभुवन जय समेत बैदेही'* के मिलनेका उत्सव राजाओंके हुआ वैसे ही जनक-परितापके मेटनेका उत्सव श्रीरामजीके हुआ' (पं० रामकुमारजीके 'उत्सव' शब्दका भाव 'उत्साहु' जान पड़ता है। भक्तका दुःख मिटानेमें भगवान्‌को प्रसन्नता होती है)। (ग) 'परिताप' पहले कह आये हैं, यथा—*'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँआरि कुआरि रहउ का करऊँ॥.........॥'*(२५२। ५) इत्यादि। लड़की कुँआरी रहनेसे जगत्‌में उपहास होगा, यही 'परिताप' है।

नोट—१ जैसे यहाँ मुनिने अति स्नेहसे धनुष तोड़नेकी आज्ञा दी वैसे ही धनुष टूटनेपर सबसे पहले इन्हींका अत्यन्त स्नेह कविने प्रकट किया है। यथा—*'कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥ रामरूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥'* (२६२। २-३)

नोट—२ 'विश्वामित्रजीका नाम यहाँ खिल उठता है। सच है, वे विश्वके मित्र हैं। राम-सीय-विवाह विश्वकल्याणके निमित्त ही है और फिर 'विश्व' नेतृत्वका परिवर्तन भी होना है। 'पशुबल' (परशुराम) पर 'सत्य सील दृढ़' (राम) की विजय होगी, इत्यादि। आज्ञाका अपीलरूप और वह भी सकरुण विचारणीय है। (लमगोड़ाजी)

नोट—३ *'भंजहु भव चापा'* के ये भाव कहे जाते हैं—(क) आपका नाम भवभयभंजन है, यथा—*'भंजेउ राम आप भवचापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू॥'* आपके लिये भवका धनुष तोड़ना क्या कठिन है? (ख) 'यह मनुष्योंका धनुष नहीं है जिसमें आपकी कुछ लघुता हो। यह महेशका धनुष है, इसके तोड़नेमें आपकी न्यूनता न होगी। इसपर यह प्रश्न होता है कि परम भक्त शिवजीका धनुष कैसे तोड़े? उसका उत्तर देते हैं कि जनक बहुत दुःखी हैं, उनके दुःखको मिटाइये, बिना इसके तोड़े उनका दुःख न मिटेगा।'—(पंजाबीजी) *'जनक परितापा'* से जनाया कि यह धनुष परितापका उत्पन्न करनेवाला है। इसमें वीर और करुणा दोनों रसोंका वर्णन है।' जनक=उत्पन्न करनेवाला। (पाँड़ेजी) इससे जनकजीकी निर्दोषता भी द्योतित करते हैं कि उन्होंने अति परितापसे बिकल होकर *'बीर बिहीन मही'* ये वचन कहे थे। (वि० त्रि०)

नोट—४ (पं० रामकुमारजी)—भवचाप भंजनमें *'राम'* कहा और परिताप मेटनेमें *'तात'*। तात्पर्य कि हम तुम्हारे नामका प्रताप जानते हैं कि वह भव-भंजन करता है तब भव-चापका नाश तुम्हारे लिये क्या है। तुम सबके 'तात' अर्थात् माता, पिता, बंधु, सखा सब कुछ हो; अतः तुमको 'जनकका परिताप' मिटाना योग्य ही है। 'तात' शब्द माता-पिता-भाई-सखा सबका वाचक है।

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥ ७॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए*। ठवनि जुवा मृगराजु लजाए॥ ८॥

अर्थ—गुरुके वचन सुनकर (श्रीरामजीने उनके) चरणोंमें मस्तक नवाया। (उनके) हृदयमें हर्ष-विषाद कुछ भी न आया॥ ७॥ सहज स्वभावसे ही वे उठकर खड़े हो गये। उनकी 'ठवनि' (खड़े होनेका ढब) जवान सिंहोंको भी लज्जित कर देती है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'चरन सिरु नावा'* इति। राजा लोग जब धनुष तोड़ने चले तब अपने-अपने इष्टदेवोंको सिर नवाकर चले, इसी तरह श्रीरामजी गुरुको प्रणाम करके चले। इससे जनाया कि हमारे

* सुहाए—१७०४; को० रा। सुभाए—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

इष्टदेव गुरु हैं। (ख) गुरुके वचन सुनकर गुरु-चरणोंमें सिर नवानेका भाव कि आपकी आज्ञाका प्रतिपालन आपके चरणोंकी कृपासे होगा।

टिप्पणी—२ *'हरषु बिषादु न कछु उर आवा'* इति। (क) अर्थात् न तो त्रिभुवन जय और जानकीजीकी प्राप्तिका हर्ष हुआ और न यही हर्ष हुआ कि धनुषको हम सहज ही तोड़ लेंगे यह धनुष है ही क्या। धनुष हमसे टूटेगा यह समझकर हर्ष न हुआ। धनुष हमसे न टूटेगा यह समझकर विषाद न हुआ। क्योंकि उनको निश्चय है कि हम धनुषको तोड़ेंगे। (ख) धनुषके टूटनेमें भारी हर्ष और न टूटनेमें भारी विषादकी प्राप्ति (अनिवार्य) है। पर श्रीरामजीको हर्ष-विषाद कुछ भी न हुआ, क्योंकि वे हर्ष-विषादरहित हैं। यथा—*'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥'* (२। १२) (देववाक्य), *'राज सुनाइ दीन्ह बनवासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥'* (२। १४९। ७) *'हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर।'* (२७०) पुनः, (ग) हर्ष-विषाद कुछ न हुआ क्योंकि जीर्ण धनुषके तोड़नेमें कोई वीरता नहीं, यथा—*'का छति लाभ जून धनु तोरे।'* (२७२। २) इससे हर्ष न हुआ। और जीर्ण धनुषके तोड़नेसे कोई हानि नहीं होनेकी (वह तो टूटा सड़ा हुआ है ही) इससे विषाद नहीं हुआ। [हानि-लाभसे ही विषाद और हर्ष होता है। जब इसके तोड़नेसे श्रीरामजीको न कुछ लाभ ही है न हानि तब हर्ष या विषाद क्यों होता। पुनः, (घ) हर्ष-विषाद जीवके धर्म हैं; यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥'* (११६। ७) और श्रीरामजी ब्रह्म हैं—*'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।'* ·········॥'(११६) अतः उनके हृदयमें हर्ष-विषाद आ ही नहीं सकते। (ङ) ☞राजाओंको लाभ सुनकर हर्ष हुआ था, यथा—*'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।'*, इसीसे उनको धनुष न उठा सकनेपर विषाद हुआ था। यथा—*'सब नृप भये जोग उपहासी।········श्रीहत भये हारि हिय राजा।'* श्रीरामजी कोई लाभ समझ धनुष तोड़नेको नहीं उठे क्योंकि उनको कोई नयी वस्तु तो मिलनी नहीं है, इसीसे हर्ष नहीं और विषादकी तो कोई बात ही नहीं है। (च) धीर हैं, इसलिये हर्ष-विषाद कुछ भी मनमें न आया। यथा—*'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥'* (वि० त्रि०)] (छ) यहाँ *'कछु'* के दो अर्थ हैं। एक तो 'किंचित्', दूसरा कोई। हर्ष वा विषाद कोई भी एवं किंचित् भी हृदयमें न आया। पुनः (ज) *'चरन सिरु नावा'* से पाया गया कि कुछ समझके हर्ष हुआ इससे चरणोंमें मस्तक नवाया अथवा कुछ समझकर विषाद हुआ होगा इससे प्रणाम करते हैं जिसमें विषाद दूर हो जाय; इसका निराकरण करनेके लिये *'हरषु बिषादु न कछु·········'* कहा अर्थात् हर्ष अथवा विषादके कारण नहीं मस्तक नवाया किन्तु स्वाभाविक ही सिर नवाया। यथा—*'राम लखि कौसिक असीस आज्ञा दई है। तुलसी सुभाय गुरुपायँ लागि रघुराज रिषिराज की रजाइ माथे मानि लई है।'* (गी० १। ८३। ४) [*'चरन सिरु नावा'* में *'अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी'* तथा यह कि इन चरणोंके प्रभावसे आज्ञाका पालन हो जायगा, ये दोनों भाव हैं। *'हरषु बिषादु न कछु उर आवा'* से जनाया कि वे अकाम हैं। इसके प्रतिकूल श्रीसीताजी और श्रीसुनयनाजी दोनोंको प्रथम विषाद हुआ और फिर धनुष टूटनेपर हर्ष भी। (प० प० प्र०)]।

टिप्पणी—३ (क) *'न कछु उर आवा'* इति। *'आवा'* एकवचन क्रिया दी, क्योंकि ये दोनों एक साथ नहीं आते, जब हर्ष आता है तब विषाद नहीं और जब विषाद आता है तब हर्ष नहीं। यदि इतना ही कहते कि *'हरषु न उर आवा'* तो सम्भव था कि कोई यह समझता कि विषाद हुआ होगा, अतः कहा कि *'हरषु बिषादु न कछु·········'*।' (ख) *'ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए'* इति। भाव कि राजालोग धनुष उठानेके लिये अकुलाकर उठे थे। यथा—*'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।'* इसके विरुद्ध श्रीरामजी *'सहज सुभाए'* उठे, अर्थात् ये अकुलाये नहीं। वे उठकर तुरत चल दिये थे, ये उठकर सिंहकी तरह पहले निःशङ्क खड़े हो गये। सिंहका स्वभाव है कि पहले किंचित् खड़ा हो जाता है तब चलता है। ☞जब हृदयमें हर्ष या विषाद होता है तब स्वाभाविक चाल बदल जाती है, यहाँ *'हरषु बिषादु न कछु उर आवा'* इसीसे सहज स्वाभाविक जैसे उठकर खड़े होते हैं वैसे ही खड़े

हुए। (ग) *'सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा'* यह कहकर तब लिखते हैं कि *'ठाढ़े भए ……'* इससे जनाया कि गुरुके पास बैठे हैं, अतः चरणोंमें सिर नवाकर तब उठे। (घ) *'ठवनि'* अर्थात् निःशङ्कतामें। —[इस शब्दके अर्थ दोहा २४३ *'कुंजरमनि कंठा कलित ……'* में देखिये।]

श्रीराजारामशरणजी—*'सहज सुभाए'* रामजीकी ओरसे है परंतु स्वाभाविक वीर शृङ्गाररसका प्रभाव यह है कि *'ठवनि जुवा मृगराज लजाए'* (कोई कृत्रिम उद्योग नहीं)। स्वभाव और प्रभावका सूक्ष्म अन्तर हर जगह विचारणीय है और कलाकी (विशेषतः नाटकीयकलाकी) जान है।

दोहा—उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥ २५४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीरूपी बाल (प्रातःकालके) सूर्यके मंचरूपी उदयाचलपर उदय होनेपर सब संतरूपी कमल खिल गये और सबके नेत्ररूपी भ्रमर हर्षित हुए॥ २५४॥

टिप्पणी—१ प्रथम श्रीरामजीके आगमनको अरुणोदय कहा, यथा—*'अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन। जिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन॥'* (२३८) अब राजसभामें बालपतङ्गके समान रघुनाथजीका उदय कहा। पहिले अरुणोदय होता है, उसके पीछे बालपतङ्गका उदय, तब अन्धकारका नाश होता है। वैसे ही यहाँ पहले आगमन है, पीछे मंचसे उठनारूपी उदय (मंचपर तो बैठे ही थे, उठकर खड़े होना यह उदय होना है) और तब धनुषका नाश है।

टिप्पणी—२ (क) उदयगिरिकी उपमा देकर सूचित किया कि यह मंच सब मंचोंसे ऊँचा है। (ख) *'बिकसे संत सरोज सब'* इति। सूर्यके स्नेही बहुतसे वृक्ष और औषध हैं पर संतको उनकी उपमा न देकर कमलकी उपमा दी, क्योंकि कमल भगवान्‌के अंगोंका उपमान है और उत्तम है। (ग) *'हरषे लोचन भृंग'* इति। ☞ यहाँ कमल और भ्रमरका सम्बन्ध नहीं है अर्थात् संत-कमलको देखकर नेत्रभृङ्ग सुखी हुए हों यह बात यहाँ नहीं है। सूर्यके उदयसे भ्रमर सुखी हुए हैं। [सूर्योदयसे भ्रमरोंका सुख यह कि वे अपना भोग-विषय पा गये, इसी तरह सबके नेत्र अपना विषय-रूप दर्शन पाकर सुखी हुए। (घ) पूर्वार्धमें सूर्योदय कहा, उत्तरार्धमें उदयका धर्म कहते हैं। उदयपर *'कमल कोक खग मधुकर'* सभी सुखी होते हैं, यथा—*'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥'* (२३९। २) संत कमल हैं, ये कमलकी तरह सर्वाङ्ग प्रफुल्लित हो गये। और सब लोगोंके नेत्र भ्रमर हैं। संतोंके नेत्र भ्रमर नहीं हैं, वे तो सर्वाङ्ग कमल हैं, उनके नेत्र भी कमलवत् विकसित हैं। तात्पर्य कि भगवान्‌को देखकर जैसा हर्ष संतको होता है वैसा औरोंको नहीं होता, इसीसे संतका सर्वाङ्ग हर्ष कहा और अन्य सब लोगोंका एक अङ्ग कहा

मा० त० वि०—'कुटिल राजाओंकी आशारूप निशाके कारण जो संकोचको प्राप्त हो रहे थे वे *'संत सरोज'* गद्गद हो गये। और महाराजके चरित्ररूपी रसकी अभिलाषामें जो अपने नेत्र-भृङ्ग प्राय किये हुए थे वे हर्षको प्राप्त हुए। अतः *'अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे'॥* वा, २—खेदके समय अद्यावधि हृदय सम्पुटित हो जाता है। सो संतोंका हृदयसरोज एवं सहस्रकमल, जो मस्तकमें है, खुल गया। और इनके मध्यमें जो लोचन इनका भ्रमररूप हो रहा था, खेदवान् वह हर्षित हुआ अर्थात् दिव्य दृष्टिसम्पन्न हो गया। इसीलिये कमल और नेत्रहीकी दशा कही।—*'भये बिसोक कोक मुनि देवा'।*

नोट—१ कुछ महानुभावोंका मत है कि *'लोचन भृंग'* भी संतोंहीके नेत्रोंके लिये कहा गया है और कुछका यह कि पुरवासियोंके नेत्रोंको भृङ्गकी उपमा दी गयी है—*'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥'* इनका कहना है कि एक ही व्यक्तिको कमल और भ्रमर कैसे कह सकते हैं। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि 'श्रीरामजीको खड़े होते हुए देखकर मुनि-समाज प्रफुल्लित हुआ और उस समाजको प्रफुल्लित देखकर और सब लोग भी प्रसन्न हुए, इस अनुमानसे कि जब श्रीरामजीको आते हुए देखकर त्रिकालज्ञ मुनिमण्डली प्रसन्न हो रही है तो श्रीरामजी अवश्य ही धनुष तोड़ेंगे। लोचनभृङ्ग संतोंके

नहीं वरन् अन्य लोगोंहीके लिये उचित है। क्योंकि सरोज और भृङ्ग ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो सकते हैं। अङ्गाङ्गी नहीं। नोट—२ यहाँ परम्परित रूपक है और आगे सूर्योदयपर साङ्गरूपक बाँधा गया है।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी॥ १॥
मानी महिप कुमुद सकुचानें। कपटी भूप उलूक लुकानें॥ २॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा॥ ३॥

अर्थ—राजाओंकी आशारूपी रात्रि नष्ट हो गयी, उनके वचनरूपी नक्षत्रोंकी पंक्ति (अब) प्रकाश नहीं करती अर्थात् जैसे सूर्योदयसे नक्षत्रसमूहका प्रकाश जाता रहता है, वे दिखायी नहीं पड़ते, वैसे ही राजाओंका बोल बंद हो गया॥ १॥ अभिमानी राजारूपी कुमुद सङ्कुचित हो गये, कपटी राजारूपी उल्लू छिप गये॥ २॥ मुनि और देवतारूपी चकवे शोकरहित हो गये। वे फूलोंकी वर्षा करके अपनी सेवा प्रकट कर रहे हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी'* इति। जब राजाओंसे धनुष न उठा तब वे आशा किये बैठे रहे कि जयमाल-स्वयंवर होगा। उसी आशाको रात्रि कहा। रात्रिमें कुछ सूझता नहीं, इसी तरह राजाओंको आशामें सूझता नहीं कि 'जानकीजी हमको न मिलेंगी'। रात्रिमें नक्षत्र चमकते हैं, वैसे ही राजा लोग श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी आशामें वचनोंसे अपना प्रकाश करते रहे। रात्रिके जानेपर नक्षत्र नहीं रह जाते, वैसे ही आशा न रह जानेसे वचन बंद हो गये। (ख) जबतक सूर्योदय नहीं होता, तबतक रात्रि नहीं जाती, यथा-*'राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ। सकल गिरिन्ह दव लाइये बिनु रबि राति न जाइ॥'* (७। ७८) इसी तरह बन्दीवचन सुनकर जब राजा धनुष तोड़ने गये और वह टस-से-मस भी न हुआ, वे अपना-सा मुँह लेकर लौट आये, तब भी आशा न गयी। पुनः जनकजीके कहनेपर भी कि *'तजहु आस निज निज गृह जाहू'* आशा न गयी और वे बने ही रहे। जब सूर्यके समान श्रीरामजीका तेज देखा तब सबको विश्वास हो गया कि ये अवश्य तोड़ेंगे; क्योंकि तेजस्वी पुरुष क्या नहीं कर सकता?—*'तेजवंत लघु गनिअ न रानी।'* (ग) *'बचन नखत ....'* इति। जब श्रीरामचन्द्रजीको चन्द्रमारूप कहा तब राजाओंके तनका प्रकाश कहा, यथा—*'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे॥'* (२४५। १) क्योंकि चन्द्रमाके साथ तारागणका कुछ तेज बना रहता है और जब रामजीका सूर्यसे रूपक बाँधा तब तनके तेजकी कौन कहे वचनरूपी नक्षत्र भी अस्त हो गये अर्थात् मारे तेजके कोई बोल भी नहीं सकता। तनकी जो दशा हुई उसे आगे कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'मानी महिप कुमुद सकुचानें। ....'* इति। (क) जिनके विषयमें कहा था कि *'भट मानी अतिसय मन माषे'* वे ही यहाँ 'मानी महीप' हैं और *'रहे असुर छल छोनिप बेषा'* वे ही 'कपटी भूप' हैं। (ख) जब श्रीरामजीको चन्द्ररूप कहा तब वहाँ कुमुद, चकोर, कोक, उलूक इत्यादि न कहे, किसीका दुःख-सुख न कहा; क्योंकि जानते थे कि आगे सूर्यका रूपक करना है। जब आगमनको अरुणोदय कह चुके हैं तब सूर्यका उदय कहना ही पड़ेगा। चन्द्रमाके रूपकमें यदि कुमुद-चकोर और कोक-उलूकका सुख लिखते तो सूर्यके रूपकमें कुमुद-चकोर और कोक-उलूक आदि कहना पूर्वसे विरुद्ध होता। क्योंकि जिनको चन्द्रमा सुख देता है उनको सूर्य दुःख देता है और जिनको सूर्य सुख देता है उनको चन्द्रमा दुःख देता है। तात्पर्य कि चन्द्रमाके रूपकमें रामजी जिनको सुख देते हैं उन्हींको सूर्यके रूपकमें रामजी दुःख कैसे देंगे? अर्थात् एक श्रीरामजीके साथ एक ही व्यक्तिको दुःख और सुख दोनों देना कैसे कहा जाय? इस विचारसे चन्द्रमाके रूपकमें कुमुद आदि न कहे गये। (ग) राजाओंके मन, वचन, तन तीनोंका हाल कहा। *'आसा निसि नासी'* (मनका), *'बचन नखत अवली न प्रकासी'* (वचनका) और *'मानी महिप कुमुद सकुचानें। कपटी भूप उलूक लुकानें॥'* (तनका हाल है)। (घ) यहाँतक दिखाया कि श्रीरामानुरागी लोग श्रीरामजीका तेज देखकर कमलकी तरह विकसित हो गये, रामविरोधी उनका तेज देख कुमुदवत्

सकुचा गये और उल्लूकी तरह छिप गये। जो मानी हैं वे अपनेसे बड़ेको देखकर सकुचा जाते हैं इसीसे मानियोंका सकुचाना कहा। कपटी अपना कपट छिपानेके लिये छिपा करते हैं इसीसे कपटी राजाओंका छिपना कहा। राजाओंमें दो भाग 'मानी' और 'कपटी' करके दिखानेमें भाव यह है कि एक तेज देखकर सकुचा गये और दूसरे तेज देख ही न सके इससे जा छिपे।

टिप्पणी—३ (क) ***'भये बिसोक'*** से अनुमान होता है कि श्रीरामजीकी कोमलता देखकर और धनुषकी कठोरता समझकर देवताओं और मुनियोंको शोक था, वे सोचते थे कि इनसे धनुष कैसे टूटेगा? यथा—***'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥'*** (२५८। ४) ☞इससे पाया गया कि माधुर्यमें सबको सन्देह हो जाता है। जब उनका तेज देखा तब धनुष तोड़नेका विश्वास हुआ और वे शोकरहित हो गये। (ख) ***'बरसहिं सुमन'*********** '। विशोक हुए, अतः फूल बरसाने लगे। दूसरे यह समय भी फूल बरसानेका है यह जानकर पुष्पोंकी वृष्टि की। यथा—***'समय समय सुर बरषहिं फूला।'*** जब श्रीरामजी सभामें आकर मंचपर बैठे तब फूल बरसाया था—***'देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥'*** (२४६। ८) और अब धनुष तोड़नेको उठे हैं इससे अब बरसाते हैं। (ग) ***'जनावहिं सेवा'*** अर्थात् हम यह सेवा आपकी कर रहे हैं, सभाके लिये नहीं बरसाते हैं। [(घ) (पाँड़ेजी)-'मुनि अपनी सुधर्म कोकी और देवता अपनी सम्पत्तिरूपी कोकीसे वियोगी हो रहे थे।' धर्म-कर्म सूर्यके उदयपर होते हैं। रघुबरबाल-पतङ्गके उदयसे इनके मनोरथ पूर्ण होंगे।

☞नोट—यह बात स्मरण रखने योग्य है कि श्रीमद्गोस्वामीजीकी यह शैली है कि—१ जहाँ उन्हें श्रीरामचन्द्रजीका उत्कर्ष दिखलाना होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार सूर्यसम्बन्धी रूपक बाँधते हैं। २ जहाँ-कहीं कोई अत्यन्त गम्भीर विषय वर्णन करना होता है वहाँ समुद्रका रूपक बाँधते हैं। और ३ जहाँ कथाका प्रसङ्ग पहलेकी कथासे कुछ दुःखदभाव लिये हुए वर्णन करना होता है, वहाँ संध्या-समयका कुछ वर्णन करते हैं। इसी प्रकार ४ जहाँ किसी दुःखदभावसे सुखदभावकी ओर झुकते हैं वहाँ प्रातःकालीन दृश्यका कुछ वर्णन किया जाता है।

☞लमगोड़ाजी—'लक्ष्मणजीने जो सूर्यका रूपक भविष्यवाणीरूपमें बाँधा था वह अब प्रत्यक्ष है। दोनों रूपकोंकी समानता तो विचारणीय है ही, सूक्ष्म अन्तर भी बड़ा सुन्दर है। विस्तारभयसे केवल संकेत किया जाता है। उन्हीं सूक्ष्म अन्तरोंके कारण पुनरुक्ति जान ही नहीं पड़ती। वहाँ सामान्यरूप है यहाँ विशेष, (Local coloring) वहाँ भक्तिप्रधान वीररस है और यहाँ वीररस प्रधान है। इत्यादि।'

गुर पद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आएसु मागा॥ ४॥
सहजहि चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु बर कुंजर गामी॥ ५॥
चलत रामु सब पुर नर नारी। पुलक पूरि तन भये सुखारी॥ ६॥

अर्थ—प्रेमसहित श्रीगुरुचरणोंकी वन्दना करके श्रीरामचन्द्रजीने मुनियोंसे आज्ञा माँगी॥ ४॥ समस्त संसारके स्वामी और सुन्दर श्रेष्ठ मतवाले हाथीकी चालवाले श्रीरामचन्द्रजी स्वाभाविक ही चले॥ ५॥ श्रीरामजीके चलते ही सारे नगरके सब स्त्री-पुरुष सुखी हुए और उनके शरीर पुलकसे भर गये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'गुर पद बंदि सहित अनुरागा।'*********' इति। गुरुपद-वन्दनमें अनुराग होना आवश्यक है, अनुराग न होना दोष है, यथा—***'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय॥'*** (दो० ४२) अतः *'सहित अनुराग'* पद-वन्दन करना कहा। (ख) श्रीरामजीने गुरुजीकी आज्ञा सुनकर उनको प्रणाम किया ही था और अब पुनः गुरुपद-वन्दन करते हैं, इससे उनके हृदयका अनुराग प्रकट दिख रहा है। बारम्बार प्रणाम करना अनुरागका चिह्न है। पुनः, (ग) पूर्व विश्वामित्रजीका स्नेह रामजीमें दिखाया—***'बिश्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेह मय बानी॥'*** और यहाँ ***'गुर पद बंदि सहित अनुरागा'*** में श्रीरामजीका स्नेह गुरुमें दिखाया। इस तरह दोनोंका अन्योन्य प्रेम दिखाया। (घ)

'मुनिन्ह सन आएसु मागा' मुनियोंमें रामजीका अत्यन्त प्रेम है, यथा—*'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम', 'पुनि मुनिवृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मख शाला॥'* (२४०। ४) इसीसे मुनियोंके सम्मानार्थ एवं उनमें अपनी भक्ति दिखानेके लिये श्रीरामजीने उनसे आज्ञा माँगी। पुनः, गुरुको प्रणाम किया इससे गुरुका मान रखा और मुनियोंसे आज्ञा माँगकर उनका मान रखा। (ङ) जो मुनि फूल बरसाते थे वे देवताओंके साथके हैं और जिनसे आज्ञा माँगी ये मुनि विश्वामित्रजीके साथके हैं और साथहीमें हैं। इनका मखशालामें साथ आना पूर्व २४० (४) में कह चुके हैं। मखशालाको जब चले थे तब इन्हीं मुनियोंने आशीर्वाद भी दिया था। यथा—*'हरषे मुनि सब सुनि बर बानी। दीन्हि असीस सबहि सुख मानी॥'* (२४०। ३) [बड़ोंसे आज्ञा लेना नीति है और भगवान् नीतिके बड़े पोषक हैं (गौड़जी)। पुनः, गुरुजी तो इस समय पितास्थानीय हैं, उन्होंने विवाहकी आज्ञा दे दी। धनुष तोड़ना और विवाह एक बात थी, पर वह विवाह बिना धनुष तोड़े सम्भव नहीं था, इसलिये तोड़नेकी आज्ञा दी। पर तोड़नेके पहले जिसका धनुष है उसकी अनुमति लेना परमावश्यक है। इसलिये ब्रह्मकुलरूपी शङ्करसे अनुमति चाही। जैसे गुरुजीने फूल लानेकी आज्ञा दे दी, फिर भी मालीसे पूछकर तब फूल तोड़े गये (वि० त्रि०)]।

टिप्पणी—२ (क) *'सहजहि चले सकल जग स्वामी'* इति। पूर्व कहा कि *'ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए'* और यहाँ *'सहजहि चले·········'* कहा इससे सूचित किया कि जैसे सहजस्वभावसे उठे वैसे ही सहजस्वभावसे चले, क्योंकि *'सकल जग स्वामी'* हैं। जगत् और उसके सारे पदार्थ आपहीके तो हैं तब किस वस्तुके लिये शीघ्रता करें। पुनः भाव कि जो जैसा बड़ा होता है वैसा ही गम्भीर होता है। राजा लोग अपने-अपने राज्यके स्वामी हैं, 'खण्डित' हैं, इसीसे वे *'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।······'* और ये सकल ब्रह्माण्डके स्वामी हैं, इनमें भारी गम्भीरता है, इससे ये गजकी चाल चलते हैं और जवान सिंहके समान खड़े होते हैं। (ख) *'मत्त मंजु बर कुंजर गामी', 'सहजहि चले'* कहकर यह उसका स्वरूप दिखाया। *'मंजु बर'* कहकर काम-गज जनाया, यथा—*'चाल बिलोकि काम गज लाजहिं।'*

नोट—१ सब राजा खण्डमण्डलेश्वर हैं एवं जीव हैं, इससे अकुला उठे थे। श्रीरामजी ब्रह्माण्डनायक हैं, ये क्यों घबड़ाते? हाथीकी चाल गम्भीर और धीर होती है मानो वह पृथ्वीको दबाता जा रहा है।

नोट—२ यहाँ मत्त गजकी उपमा दी क्योंकि आगे कमलनालकी तरह धनुषका तोड़ना कहेंगे। जैसे मतवाला हाथी सरमें प्रवेश करके कमलकी डंडीको तोड़ फेंके वैसे ही श्रीरामजीने धनुषको तोड़कर पृथ्वीपर फेंक दिया, यह बात जनकपुरके दूतोंने चक्रवर्ती महाराजसे कही है, यथा—*'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल'* (२९२)

टिप्पणी—३ (क) 'चलत' इति। पुरवासी पहले स्वरूपकी सुन्दरता देखकर सुखी हुए थे। यथा—*'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥'* (२४४। ३) और अब चालकी सुन्दरता देखकर सुखी हुए; क्योंकि उनकी भावना शृङ्गारकी है, जहाँ कहीं शोभा-वर्णन करते हैं वहाँ पुरवासियोंका सुख कहते हैं। (ख) *'सब पुर नर नारी'* भाव कि छोटे-बड़े सभी श्रीरामचन्द्रजीके अनुरागी हैं, यथा—*'रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई॥ चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुवान जरठ नर नारी॥'* (२४०। ६) यही सब पुलकित हुए। (ग) मनमें सुखी हुए और तनसे पुलकित हुए अर्थात् भीतर-बाहर प्रेमसे परिपूर्ण हो गये। देखकर सब पुलकित हुए, यह पुरवासियोंका सहज स्नेह दिखाया।

नोट—३ ☞पूर्व कह आये हैं कि *'जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥'* (२५२। ७) अब उनका सुखी होना दिखाया।

नोट—४ ☞तुलसीदासजी फिर अपनी उपर्युक्त शैलीके अनुसार इस परिस्थिति (घटना) परिवर्तनको प्रभाव सबपर दिखाते हैं। पहले जनतापर प्रभाव दिखाया—कितना प्रेम, कितना आत्मसमर्पण और साथ ही आशासे कितनी पुलकावली है!! (लमगोड़ाजी)

बंदि पितर सुर* सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य प्रभाउ हमारे॥ ७॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं॥ ८॥

शब्दार्थ—**पितर**=मरे हुए पुरखे जिनके नामपर श्राद्ध वा जलदान किया जाता है।=वह मृत पुरुष जिसका प्रेतत्व छूट चुका हो। **सँभारना**=स्मरण करना। **मृनाल** (मृणाल)=कमलका डंठल जिसमें फूल लगा रहता है, कमलनाल, कमलदण्ड। **तोरहुँ**=तोड़ें।

अर्थ—देवताओं और पितृदेवोंकी वन्दना करके (सभी अपने-अपने) पुण्योंको स्मरण करते हैं (और कहते हैं—) यदि हमारे पुण्योंका कुछ भी प्रभाव (शक्ति, सामर्थ्य) हो॥ ७॥ तो, हे गणेश गोसाईं! श्रीरामचन्द्रजी शिवजीके धनुषको कमलदण्ड-सरीखा तोड़ डालें॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'बंदि पितर सुर''''''''''* अर्थात् प्रणामकर मन-ही-मन स्मरण करके कहते हैं कि 'हे देव! हे पितर! हमने जो आजतक आपकी सेवा की उसे सफल कीजिये'। (ख) ***'सुकृत सँभारे'*** अर्थात् सुकृतोंका स्मरण किया कि हमने अमुक यज्ञ किया, अमुक दान दिया, अमुक व्रत किया है। (ग) ***'देव पितर'*** मनाये और ***'सुकृत सँभारे'*** इससे सूचित हुआ कि देवताओं और पितरोंकी कृपासे और पुण्यके प्रभावसे मनोरथ पूरे होते हैं। (पितर शीघ्र प्रसन्न होते हैं, इसलिये पहिले पितरोंकी वन्दना की। (वि० त्रि०) (घ) ***'जौं कछु'*** का भाव कि पुण्यका प्रभाव नहीं जान सकते क्योंकि कर्मकी गति गूढ़ है, उसका जानना कठिन है। यथा—'**गहना कर्मणो गतिः**।'(गीता ४। १७) ***'कठिन कर्म गति जान बिधाता।'*** (२। २८२) एक चरणमें ***'सुकृत',*** दूसरेमें ***'पुन्य'*** शब्द देकर दोनोंको एकार्थी जनाया। (ङ) ***'तौ सिवधनु मृनाल की नाईं'*** इति। श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे अभी सुन चुके हैं कि मैं इस धनुषको कमलनालकी तरह चढ़ा दूँ—***'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ।'*** इसीसे मनाते हैं कि श्रीरामजी धनुषको 'कमलनाल' की तरह तोड़ डालें। (च) ***तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं'*** इति। पूजा या किसी पुण्यकर्मधर्मके आदिमें प्रथम गणेशजीका पूजन होता है। वे सब धर्मोंके साक्षी हैं। इसीसे सुकृतोंके स्मरणमें गणेशजीसे प्रार्थना करते हैं। ***'गोसाईं'*** का भाव कि मन आदि जितनी इन्द्रियाँ हैं उन सबोंके आप स्वामी हैं, आप इन सबोंका हाल जानते हैं, अतएव हमारे अन्तःकरणकी जानकर हमारा मनोरथ पूरा कीजिये। गणेशजीने उनका मनोरथ पूरा किया, यथा—***'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल॥'*** इससे पाया गया कि जनकपुरवासी बड़े सुकृती हैं। (गणेशजी विघ्नविनाशक और सिद्धिदाता हैं ही।)

नोट—१ *'जौं कछु पुन्य''''''''''तौ सिवधनु—'* भाव कि हमने जो कुछ कभी भी आपकी पूजा-सेवा की हो तथा सभी पुण्य जो हमने किये हैं उन सबोंका फल श्रीरामचन्द्रजीको मिले। सुकृत मनानेमें पुरवासियोंका सौहार्द और आत्मनिवेदन सूचित हो रहा है।

'सखी-गीता'

दोहा—रामहि प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीता मातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥ २५५॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीको प्रेमसहित देखकर सखियोंको पास बुलाकर श्रीसीताजीकी माँ स्नेहवश होनेके कारण बिलख-बिलखकर अर्थात् दुःखी होकर वचन कह रही हैं॥ २५५॥

वे० भू० जी०—१ किसीके आत्म-परमात्मविषयक (आध्यात्मिक) संशयनिवृत्त्यर्थ जो उपदेश दिया जाता है, वह 'गीता' कहाता है। गीता कहीं तो उपदेश देनेवालोंके नामसे विख्यात होती है और कहीं जिसको उपदेश दिया जाता है उसके नामसे। श्रीरामचरितमानसमें दोनों तरहकी कई गीताएँ हैं। जैसे, शिवगीता (कैलास-प्रकरण), सखी-गीता (स्वयंवरप्रकरणान्तर्गत), लक्ष्मण-गीता (शृङ्गवेरपुरमें), राम-गीता तथा नारद-

* पाठान्तर—'सब'—ना० प्र०, १७०४।

गीता (अरण्यकाण्डमें), विभीषण-गीता (धर्मरथ—लंकामें) और पुरजन-गीता एवं गरुड़-गीता (उत्तरकाण्डमें)। सबकी फलश्रुतिमें संशयकी निवृत्तिका होना कहा गया है।

२ जिस समय दोनों राजकुमार रङ्गभूमिमें आये उस समय समस्त दर्शकोंकी भावनाओंका वर्णन करते हुए रानियोंकी भावनाका उल्लेख कविने इस प्रकार किया है—*'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥'* (२४२। ३) तबसे रङ्गभूमिमें अबतक बहुत बातें हो गयीं—साधु और दुष्ट राजाओंका संवाद, श्रीसीताजीका आगमन, पुरवासियोंकी लालसात्मक सुन्दर भावनाएँ, बंदियोंका प्रण सुनाना, अभिमानी राजाओंका धनुष तोड़नेको जाना और हारकर बैठ जाना, श्रीजनकजीका विषादात्मक वक्तव्य, श्रीलक्ष्मणजीका रोषप्रदर्शन—जिनके कारण चित्तवृत्ति बार-बार विभिन्न स्थलोंमें बँट जानेसे रानीका श्रीरामजीकी तरफ विलोकनेमें व्यवधान पड़ गया था। जब विश्वामित्रजीने आज्ञा दी *'उठहु राम भंजहु भव चापा'* और श्रीरामजी धनुर्भङ्गार्थ उठकर मञ्चपर खड़े हुए तब रानियोंकी दृष्टि तथा चित्तवृत्ति सब ओरसे हटकर उधर फिर आयी और देखते ही उनका वही वात्सल्य-प्रेम उमड़ पड़ा। इसीसे वहाँके *'बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥'* इस चौपाईसे प्रसङ्ग मिलाकर कविने यहाँ *'रामहिं प्रेम समेत लखि'* कहा।

टिप्पणी—१ पुरवासियोंका (जनताका) प्रेम दिखाकर अब रनिवासका प्रेम कहते हैं। रानीका वात्सल्य-प्रेम है, यह पहले ही दिखा आये, यथा—*'सिसु सम प्रीति न जाति बखानी।'* (२४२। ३) वे उसी वात्सल्यप्रेममें अब भी मग्न हैं। *'प्रेम समेत लखि'* से जनाया कि श्रीसुनयनाजीका श्रीरामजीमें अत्यन्त वात्सल्य है।

टिप्पणी—२ *'सखिन्ह समीप बोलाइ'* इति। (क) पास बुलाकर कहा जिसमें और कोई न सुने—यह स्त्रियोंकी मर्यादा है। [(ख) *'सखिन्ह'* कहकर जनाया कि उनकी बहुत-सी सखियाँ थीं। सबको बुलाया। सखीको बुलानेका कारण यह है कि प्रेमसहित देखते ही वे वात्सल्यवश श्रीरामजीकी मृदु सुकुमार मूर्ति देख अत्यन्त विह्वल हो गयी हैं। अपने दुःखका हाल कहना है। कहनेसे दुःख कुछ घट जाता है। 'सखी' वही कहलाती है जो सदा साथ रहती और जिससे कोई बात छिपायी नहीं जाती तथा जो सुख-दुःखमें समान सुख-दुःखको प्राप्त हो। सखीका चार प्रकारका कार्य होता है—मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास। इन सखियोंमें सब गुण हैं। इसीसे उनको बुलाया। वे दुःखकी संगिनी हैं, समझाकर दुःखका निवारण करेंगी। (ग)*'समीप बोलाइ'* से जनाया कि श्रीसुनयनाजीकी अन्तरङ्गा सखियाँ कुछ दूरीपर थीं पर इतनी दूर न थीं कि इशारेसे बुलायी न जा सकें। बुलानेका कारण उत्तरार्धके *'कहै बिलखाइ'* से स्पष्ट है।]

टिप्पणी—३ (क) *'सीता मातु'* कहकर जनाया कि यह वचन श्रीसुनयनाजीका है। *'सीतामातु'*, *'सीयमातु'* आदि न कहकर केवल रानी कहनेसे यह निश्चय न होता कि किस रानीका वचन है क्योंकि जनकजीके बहुत रानियाँ हैं। यथा—*रानिन्ह सहित सोच बस सीया।'* (२६७। ७) *'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा।'* (२६०। ६) *'सावकास सुनि सब सिय सासू। आयेउ जनकराज रनिवासू॥'* (२। १८१) *'चलिहि बरात सुनत सब रानी।'* (३३४। २) इत्यादि। *'सीता मातु'* से जनाया कि श्रीसुनयनाजी सीताजीको निज कन्या मानती-जानती हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा है, यथा—*'जनक पाटमहिषी जग जानी। सीयमातु किमि जाइ बखानी॥'* (३२४। १) [श्रीसीताजीके प्रकट होनेपर देवताओंने आकाशवाणी की और देवर्षिने आकर राजाको उनका महत्त्व बताया, तब राजा जनकने कन्याको गोदमें उठा लिया और अपनी पटरानी श्रीसुनयनाजीको दिया। यथा—'**तदा तु जनको राजा निजाङ्के समरोहयत्। १०। पत्न्यै समर्पयामास सुनेत्रायै च भूपतिः। तया संरक्षिता सीता ववृधे पितृवेश्मनि। ११।**'(सत्योपा० उत्त० अ० २) (ख) *'सनेहबस'*। भाव कि यदि श्रीरामजीमें ऐसा अत्यन्त वात्सल्य न होता तो इतनी व्याकुलता न होती। (ग) *'कहै बिलखाइ।'* श्रीरामजीकी सुकुमारता, किशोरावस्था और धनुषकी कठोरता समझकर दुःखी हो जाती हैं। (इससे स्पष्ट है कि रानीको अत्यन्त दुःख हुआ, उनका धीरज जाता रहा, धैर्यका कोई अवलंब

न मिला। तब सखियोंको बुलाया कि शायद वे धीरज दे सकें) (घ) प्रधान रानी सुनयनाजीका दुःख वर्णन किया, प्रधानका दुःख कहकर और रानियोंको भी ऐसी ही दुःखी सूचित किया। पृथक्-पृथक् सबका दुःख न कहा, पर आगे ***'सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥'*** (२६०। ६) इन वचनोंसे सबका दुःखी होना जना दिया है।

नोट—स्नेहवश दुःख हो रहा है कि सुकुमार हैं धनुष कैसे तोड़ेंगे? अथवा, सुकुमार होनेके कारण उन्हें भय है कि इनके हाथोंमें कहीं मोच न आ जाय। श्रीलमगोड़ाजी भी कहते हैं कि 'बिलकुल ठीक है, इसीसे प्रेमकी कोमलताको सकरुण रूप दिया है—(बिलखाइ)।' सच है, वात्सल्यमें बल, वीर्य, तेज, प्रताप, ऐश्वर्य आदि तो स्वप्नमें भी नहीं आने पाते, तभी तो दशरथ महाराजने घबड़ाकर कह ही डाला ***'राम देत नहिं बनै गोसाईं'*** और तभी तो ***'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥ मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥'*** से ***'सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥'*** तक, तथा ***'हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवनि भाँति लंकापति मारा॥ अति सुकुमार जुगल मेरे बारे।''''''*** (७। ७)

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥ १॥
कोउ न बुझाइ कहै गुर* पाहीं। ए बालक असि हठ भलि नाहीं॥ २॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ ३॥

अर्थ—हे सखी! जो भी हमारे हितैषी कहलाते हैं वे सब (भी) तमाशा ही देखनेवाले हैं॥ १॥ कोई भी तो गुरु-(विश्वामित्रजी-) से समझाकर नहीं कहता कि ये (रामजी) बालक हैं, (इनके लिये) ऐसा हठ अच्छा नहीं॥ २॥ रावण और बाणासुरने तो धनुषको छुआ भी नहीं (देखकर ही डरके भाग गये) और सब राजा घमंड करके हार मान गये॥ ३॥

नोट—१ ***'सखि'*** एकवचनात्मक सम्बोधन है। उपक्रममें एकवचन है और उपसंहारमें भी, यथा—***'सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।'*** फिर एक ही सखीका आगे समझाना कहा है। यथा—***'बोली चतुर सखी ''''''''''सखी बचन सुनि भै परतीती।'*** इससे सूचित हुआ कि सखियाँ सब आयीं पर सबोंमें जो परम चतुर, अत्यन्त प्रिय, विश्वासपात्र और अत्यन्त हितैषिणी थी उसीसे सुनयनाजीने कहा।

टिप्पणी—१ (क) बिलखाकर वचन कहे। बिलखानेका कारण यह बताते हैं कि जो हितू कहलाते हैं वे भी तमाशा देख रहे हैं। ***'कहावत'*** का भाव कि वे सच्चे हितैषी हैं नहीं, हितैषीका काम है कि हित करें, हितकी बात कहें, ऐसा न करके ये तमाशा देखते हैं, ये कहनेभरके हितैषी हैं। सम्बन्धी, मित्र, मन्त्री, गुरु, पुरोहित इत्यादि 'हित' हैं। ***'कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं'*** इति। क्या हित करना चाहिये सो यहाँ कहा।

नोट—२ सं० १६६१ की पोथीमें ***'गुर'*** पाठ है। अन्य पोथियोंमें प्रायः ***'नृप'*** पाठ है। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि 'जो धनुष रावण और बाण-जैसे जगद्विजयी वीरोंके हिलाये न हिल सका, उसे तोड़नेके लिये मुनि विश्वामित्रजीका रामजीको आज्ञा देना और रामजीका उसे तोड़नेके लिये चल देना रानीको हठ जान पड़ा; इसलिये वे कहने लगीं कि गुरु विश्वामित्रजीको कोई समझाता भी नहीं।' भागवतदासजीका पाठ ***'नृप'*** है। पं० रामकुमारजीके टिप्पण ***'नृप'*** पाठके अनुसार है। राजाको समझानेकी बात गीतावलीमें भी पायी जाती है, यथा—***'जनक मनकी रीति जानि बिरहित प्रीति, ऐसी औ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहि ऐसो कहि न बुझावै कोउ, पन औ कुँवर दोऊ प्रेमकी तुला धौं तारु।'*** (८२) ***'कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ए री। कुलिस कठोर कहाँ संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री।'*** (७८)। इसलिये प्रायः लोगोंने ***'नृप पाहीं'*** पाठको समीचीन माना है। १६६१ की प्रतिमें 'गुर'

* गुर—१६६१। नृप—प्रायः औरोंमें। विशेष नोट २ में देखिये।

स्पष्ट है, न हड़ताल है न काटाकूटी। *'नृप पाहीं'* से सिद्ध होता है कि राजाका हठ है कि ये तोड़ें इसीसे रानी उनको समझानेकी बात कह रही हैं। पर वस्तुतः यहाँ तो गुरुने ही तोड़नेकी आज्ञा दी है। गीतावलीमें तो गुरुकी आज्ञा होनेपर जब श्रीरामजी उठे हैं तब जनकजी सहम गये और हाथ जोड़कर मुनिसे बोल ही तो उठे। यथा—*'सोचत जनक पोच पेंच परि गई है। जोरि कर कमल निहोरि कहैं कौसिक सों आयसु भो रामको सो मेरे दुचितई है॥ बान जातुधानपति भूप दीप सातहूँ के लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है।.........आपुहि बिचारिए निहारिए सभा की गति बेदमरजाद मानी हेतु बाद हई है। इन्ह के जितौंहैं मन सोभा अधिकानी तन, मुखन की सुखमा सुखद सरसई है॥ रावरो भरोसो बल कै है कोऊ कियो छल, कैंधों कुल को प्रभाव कैधों लरिकई है। कन्या कल कीरति बिजय बिस्व की बटोरि कैधों करतार इन्हहीं को निरमई है॥ पनको न मोह न बिसेष चिंता सीता हू की, लुनिहै पै सोई सोई जोई जेहि बई है। रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ, हाथ सों तिहारे करतूति जाकी नई है॥'* (गी० ८। १, ३—५)'

श्रीरामजीकी माधुरी मूर्तिमें सभी भूल जाते हैं। राजा जनक भी सोचने लगे कि गुरुको ऐसी आज्ञा न देनी चाहिये। फिर भी सँभल गये—*'रहै रघुनाथ की.........'*। *'गुरु पाहीं'* पाठके अनुसार *'ए बालक असि हठ'* से *'बाल मराल कि मंदर लेहीं'* तक *'गुरु'* के सम्बन्धकी बात है। उसके पश्चात् *'भूप सयानप सकल सिरानी'* ये राजाके सम्बन्धकी बात है। *'नृप पाहीं'* पाठमें समस्त वचन राजाके सम्बन्धके माने जायँगे। प्र० सं० में *'नृप'* पाठ दिया गया था, परंतु प्राचीनतम पोथीका पाठ *'गुर'* जानकर और उसमें असंगति न देखकर इस संस्करणमें *'गुर'* पाठ लिया गया। भाव दोनों पाठोंके दिये जा रहे हैं। प० प० प्र० भी *'गुर'* पाठको समीचीन और पूर्वसंदर्भानुकूल मानते हैं।

वि० त्रि० भी *'गुर'* को ही समीचीन मानते हुए कहते हैं कि 'नृपने जब प्रण कर दिया, तब उन्हें धनुष-भङ्ग रोकनेका क्या अधिकार है, विशेषतः लक्ष्मणजीके द्वारा फटकारे जानेपर वे किस मुँहसे रोकते? जनक राजाके लिये हठका उपालम्भ करना ही हठ है। वे तो स्वयं गुरुकी आज्ञाको उचित नहीं समझ रहे हैं (जैसा गीतावलीके उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है); अतः न राजाका हठ है और न उन्हें उपालम्भ देना बन सकता है।' *'कोउ न बुझाइ.......'* में भाव यह है कि गुरुने आज्ञा दे दी और 'राम' उठ खड़े हुए। वे बालक हैं, उन्हें इतना विचार कहाँ कि यह धनुष मुझसे टूटेगा कि नहीं। गुरुजीने विचार न किया तो हमारे हितचिन्तकोंको तो उन्हें समझाना चाहिये था। यह हँसता हुआ आनन्दमय मुख कृतकार्य न होनेसे व्यर्थ म्लान हो जायगा। इनको धनुष तोड़नेके लिये भेजना और यह घोषणा एक ही बात है कि ये भी जानकीसे विवाह करनेके अयोग्य हैं।

नोट—३ (क) *'बुझाइ कहै'* का भाव कि विधिवश किसीको सूझता नहीं, अतएव सुझाना चाहिये। क्या सुझाना चाहिये, यह आगे कहती हैं—*'ए बालक ......मंदर लेहीं।'* (ख) *'ए बालक असि हठ .....'* इति। *'ए'* से अंगुल्यानिर्देश सूचित किया। श्रीरामजीकी ओर इशारा करके कहना जनाया। (ग) *'बालक'* श्रीरामजीकी किशोर-अवस्था है; पर रानीका अत्यन्त वात्सल्य भाव है, *'सिसु सम प्रीति न जाति बखानी'*; इसीसे कहती हैं *'ए बालक'*। पुत्र कितना ही बड़ा हो माता उसे बालक ही समझती है।

नोट—४ *'नृप पाहीं'* पाठमें इन चरणोंके भाव ये हैं—(क) *'कोउ न कहै'* अर्थात् राजाके डरसे कोई उनसे नहीं कहता। यथा—*'सचिव सभय सिख देइ न कोई।'* (२५८। ३) (ख) *'बुझाइ'* का भाव कि राजाको विधिवश समझ नहीं पड़ता; यथा—*'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥'* (ग) *'ए बालक.........'* 'बालकके साथ ऐसी हठ अच्छी नहीं' कहकर जनाया कि राजाओंसे यह हठ अच्छी थी। अर्थात् वीरोंके मुकाबिलेमें हठ शोभा पाती थी पर बालकके साथ हठकी शोभा नहीं है। पुनः, दूसरा आशय यह है कि बालकसे धनुष न टूटा तो पीछे हृदयमें संताप होगा; संसारभर बुरा कहेगा। यथा—*'जगु भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हें उर अंतहु दाहू॥'* (२४९। ५)—यह दूसरा भाव *'गुर पाहीं'* पाठमें भी है। (पं० रामकुमारजी) (घ) राजाओंके लिये हठको योग्य और

श्रीरामजीके लिये अयोग्य कहा, क्योंकि राजाओंको अभिमान था कि हम वीर हैं, बलवान् हैं और श्रीरामजी परम सुकुमार बालक हैं। ☞इस कथनसे रानीका प्रेम दिखायी दे रहा है, वे चाहती हैं कि इन्हींके साथ विवाह कर दिया जाय। (ङ) *'ए बालक असि हठ…………'* के और भावार्थ ये कहे जाते हैं—(१) आपकी यह हठ बालकोंकी-सी हठ है। आप ज्ञानिशिरोमणि हैं। आपको बच्चोंकी-सी हठ शोभित नहीं। (२) जैसे ये बालक भले हैं वैसी ही भली हठ इनके लिये करते। वह भली हठ यह है कि—*'पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।'* जो पुरवासियोंकी लालसा है। (प्र० सं०)

टिप्पणी—२ (क) *'रावन बान छुआ नहिं चापा'* इति। ये दोनों अपने समयके जगद्विजयी महाभट थे, इसीसे उनका नाम प्रथम लिया। बंदीजनके मुखसे सुना ही था कि *'रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवँहि सिधारे॥'* इसीसे भारी महाभट जानकर वही बात रानीने कहकर जनाया कि धनुष अति कठोर है। (*'छुआ नहिं'* से जनाया कि ये दोनों उसे देखते ही समझ गये कि यह उनसे न उठेगा। हाथ लगानेसे अप्रतिष्ठा होगी) (ख) *'हारे सकल भूप करि दापा'* इति। यथा—*'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ।'* (२५०) *'भट मानी अतिसय मन माखे। परिकर बाँधि उठे अकुलाई॥'* यही दर्प है। *'श्रीहत भये हारि हिय राजा', 'भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥'* यही सबका हारना है। (ग) *'छुआ नहिं,* यथा—*'देखि सरासन गवँहि सिधारे', 'सकै उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गएउ करि फेरू॥'* (घ) 'बान'=बाणासुर '**नामैकदेशे नाममात्रस्यैव ग्रहणम्**।' यथा—*'जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत।'* हनू=हनूमान्, तथा **बान**=बाणासुर। [पर कोशमें बाण और बाणासुर दोनों नाम मिलते हैं। असुर होनेसे 'बाण' को 'बाणासुर' कहते हैं। जैसे 'त्रिपुर' को त्रिपुरासुर, 'तारक' को तारकासुर।] (ङ) *'सकल भूप'* के दोनों अर्थ यहाँ हैं, एक तो यह कि पृथक्-पृथक् हर एकने बड़े घमण्डसे जाकर उठाना चाहा, सो हर एक हार गया। फिर सबने मिलकर उठानेका अभिमान किया सो भी चूर हो गया, सब मिलकर भी हार गये। ☞श्रीरामजीके साथ हठ भली नहीं यह कहकर उसका कारण कहा कि *'रावन………।'*

सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥ ४॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति* न जानी॥ ५॥

अर्थ—वही धनुष राजकुँवरके हाथमें देते हैं। बालहंस भी कहीं मन्दराचल उठा सकते हैं?॥ ४॥ राजाका सारा सयानपन खतम हो गया। हे सखी! विधाताकी गति कुछ जानी नहीं जाती॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'सो'* अर्थात् जिसे रावण-बाणासुरने *'कर'* (हाथ) से छुआ भी नहीं, जो बीस हाथसे न उठ सका, सहस्र हाथसे न उठ सका और बीस हजार 'कर' से भी हिलाये न हिला वह। (ख) *'राजकुअँर कर देहीं'* इति। श्रीरामजी बालक, सुन्दर और सुकुमार इत्यादि गुणयुक्त हैं यह दिखानेके लिये रावण-बाण आदि प्रौढ़ और कठोराङ्गवालोंकी अपेक्षासे यहाँ *'राजकुँअर कर'* में देना कहा। (ग) *'बाल मराल कि मंदर लेहीं'* इति। भाव कि धनुष मन्दराचल है। जिनको कैलास और मेरुके उठानेकी शक्ति है वे रावण और बाणासुर भी धनुषरूपी मन्दराचलको छूनेका भी साहस न कर सके तब तो बालहंसरूप राजकुमारका उसे उठा लेना अत्यन्त असम्भव है। श्रीरघुनाथजीकी अत्यन्त सुकुमारता दरसानेके लिये उनको *'बाल मराल'* कहा। जैसे श्रीसीताजीने उनकी सुकुमारताके कारण उन्हें *'सिरस सुमन'* और 'धनुष' को हीरा कहा—*'सिरस सुमन कन बेधिय हीरा।'* (२५८। ५) [अर्थात् हीरा किसी भी धातुसे नहीं बेधा जा सकता तब अत्यन्त कोमल सिरस-सुमनके तन्तुसे कैसे बेधा जा सकता है। सिरस सुमनका तन्तु अत्यन्त कोमल होता है वैसे ही ये अति कोमल हैं]; वैसे ही श्रीसुनयनाजीने अत्यन्त सुन्दरता और सुकुमारताके

* कछु जाइ न—छ०। कहि जाति न—१७०४। (पर रा० प्र० में 'कछु जाय न' है)। कछु जाति न-१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। 'कहि जाति न जानी'=न कही और न जानी जा सकती है।

विचारसे इनको हंसका बच्चा कहा*। पुनः, *'बाल मराल'* कहनेका भाव कि पहले इनको बालक कहा है—*'ए बालक असि हठ भलि नाहीं',* इसीसे इनको यहाँ *'बाल'* हंस कहा। (घ) *'कि मंदर लेहीं'* इति। मन्दरके दो अर्थ हैं। एक तो पर्वत, यथा—*'गहि मंदर बंदर भालु चले सो मनो उनये घन सावन के।'* दूसरा मन्दराचल। यहाँ मन्दराचल अर्थ विशेष उपयुक्त है, क्योंकि समस्त दैत्य, दानव और देवताओंसे भी क्षीरसिन्धु मन्थनके समय मन्दराचल न थमा, सब सुरासुर मिलकर भी उसे धारण न कर सके थे, भगवान्‌ने कच्छपरूप धारणकर उसे अपनी पीठपर थामा था; तब भला उस मन्दराचलको छोटा हंस (बच्चा) क्योंकर धारण कर सकेगा? इसी प्रकार जिस धनुषरूपी मन्दराचलको रावण और बाणासुररूपी 'सुरासुर' हाथ लगाते डरे (कि कहीं कुचल न जायँ) उसे सुकुमार बालमरालरूप श्रीरामजी कैसे उठा सकेंगे? [यहाँ 'विषमालंकार', वक्रोक्ति और ललित अलंकारोंका संदेहसंकर है। (वीर)]

टिप्पणी—२ (क)—*'भूप सयानप सकल सिरानी'* इति। भाव कि यह बात सबके समझमें आ रही है कि *'रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा'* उस धनुषको बालक कैसे तोड़ सकते हैं, पर यह बात राजाको नहीं समझ पड़ती; इससे ज्ञात होता है कि राजाका सब सयानप जाता रहा। [यदि इस वाक्यको भी *'गुर पाहीं'* से ही सम्बन्धित मानें तो *'कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं'* पाठके अनुसार इसके भाव ये होंगे कि—१ गुरुसे कोई कहे या न कहे पर राजाको तो स्वयं अपनी हानि-लाभ सोचनी चाहिये थी, यह विचार करना ही चाहिये था कि ये अति सुकुमार हैं। इनको धनुषके पास स्वयं न जाने देते, अथवा, २-मुनिको समझाते। मुनि इनके समझानेसे समझ जाते। इससे जान पड़ता है कि सब सयानप जाता रहा।] (ख) *'सकल सयानप'* कहकर जनाया कि राजामें बहुत बुद्धिमानी थी, वे सब प्रकारसे बुद्धिमान् थे। स्वयं सब प्रकारसे बहुत बुद्धिमान् होनेपर भी उन्हें कुछ समझ नहीं पड़ता, इससे नतीजा निकालती हैं कि *'बिधि गति.........'* अर्थात् विधाताकी गति बड़ी सूक्ष्म है—*'को जग जानै जोग'*।

नोट—*'भूप सयानप'* इति। यथा—*'रागी औ बिरागी बड़भागी ऐसो आन को॥ भूमि भोग करत अनुभवत जोग सुख, मुनि मन अगम अलख गति जान को। गुरु हर पद नेहु गेह बसि भो बिदेह, अगुन सगुन प्रभु भजन सयान को॥ कहनि रहनि एक बिरति बिबेक नीति, बेद बुध संमत पथीन निरबान को॥ गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को॥'* (गी० १। ८६। १—३) *'धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥'* (२। २८८) (यह वाक्य स्वयं श्रीजनकजीका है)

गौड़जी—*'भूप सयानप............'* का भाव कि सयानपन सीधे ब्याह कर देनेमें ही था। रानी यह घबरायी कि धनुष तोड़नेको इन्हें क्यों भेजते (वा, भेजने देते) हैं? न टूटा तो विवाह इनसे भी नहीं होगा। इन्होंने तो अभी हाथ नहीं लगाया था। इनसे तो बिना शर्तके ही विवाह हो सकता था।

वि० त्रि०—जिस समय रानीके मनमें यह भाव आया उसी समय महाराजके मनमें भी वही भाव उठा, उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया। पूरा प्रसङ्ग गीतावलीमें देखने योग्य है कि महाराजके निवेदनपर गुरुजीने क्या कहा और स्वयं रामजीने क्या कहा। गुरुजीने क्या कहा यह देखिये—*'कहि साधु साधु गाधिसुवन सराहे राउ महाराज जानि जिय ठीक भली दई हैं। कहैं गाधिनंदन मुदित रघुनंदन सों नृपगति अगह गिरा न जाति गही है॥ देखे सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम साँचे तिरहुतनाथ साखी देत मही है। रागऊ बिराग जोग भोग जोगवत मन, जोगी जागबलिकप्रसाद सिद्धि लही है। ताते न तरनि ते न सीरे सुधाकरहू ते सहज समाधि निरुपाधि निरबही है। ऐसेऊ अगाध बोध रावरे सनेह बस बिकल बिलोकत दुचितई सही है॥'* इसपर श्रीरघुनाथजीने कहा—*'रिषिराज राजा आजु जनक समान को। आपु एहि भाँति*

* नोट—साहित्यमें तीन प्रकारके हंसोंका होना पाया जाता है—१ 'राजहंस' चाल और गर्दनकी सुन्दरताके लिये। २ 'कलहंस', चाल और शब्दके लिये और ३ 'बालहंस' अपनी चाल और सुकुमारताके लिये प्रसिद्ध है। यहाँ सुकुमारताका प्रसंग है। (प्र० सं०) इसके अनुसार 'बाल मराल' का अर्थ 'बालहंस' भी हो सकता है। पर 'ए बालक' के सम्बन्धसे 'हंसका बच्चा' अर्थ विशेष संगत है। श्रीरामजीको बालक हंस कहकर रावणादिको युवा मराल जनाया। (वै०, रा० प्र०)

प्रीति सहित सराहियत रागी औ बिरागी बड़ भागी ऐसो आन को?॥………*सुनि रघुबीरकी बचन रचना की रीति भयो मिथिलेस मानो दीपक बिहान को। मिट्यो महामोह जीको, छूट्यो पोच सोच सी को, जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को।'* (उपर्युक्त गी० १। ८६) इतना संवाद होनेपर तब रामजी गये। (मेरी क्षुद्र बुद्धिमें तो मानसकल्पमें गीतावलीका यह प्रसङ्ग नहीं बैठता।)

श्रीराजारामशरणजी—१ (क) रामायणमें प्रत्येक स्थितिमें स्त्रियोंका हाथ भी अवश्य दिखाया गया है। जो तुलसीदासजीको स्त्रीजगत्‌का निन्दक कहते हैं, वे विचार करें कि जनकपुर, अयोध्या, चित्रकूट, पंपापुर (किष्किन्धा?) और लंका सभी जगह स्त्रियोंका कितना सुन्दर वर्णन है। मन्थरा, कैकेयी और शूर्पणखाके अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ धर्ममें सहयोग ही करती हैं (और मन्थरा एवं कैकेयी भी केवल निमित्तमात्र थीं। हाँ, शूर्पणखाको हम कुटिला कह सकते हैं)। तारा और मन्दोदरी तो उपदेष्टारूपमें पति-सुधारका भरसक प्रयत्न करती हैं।

हाँ, उनका सहयोग, कोमल व्यवहार, दया, त्याग और तपद्वारा होता है। यहाँ भी रानीकी कोमलता और सखियोंका धैर्य्य, विश्वास और विवेक एक बड़ा सुन्दर चरित्र और परिस्थिति-संघर्ष उत्पन्न करता है जो नाटकीय कलाकी जान है। किस सुन्दर युक्तिसे महाकाव्यकलाकी ओर दृश्य उठ रहा है:—*तेजवंत लघु गनिय न रानी।'* इत्यादि।

(ख)—'कहावत' शब्दसे किस सुन्दरतासे यह संकेत है कि वे केवल कहनेके हितू हैं।—आह! इन्हें भी प्रेमके कारण राजाका प्रण हठ ही दीखता है। *'बाल मराल कि मंदर लेहीं'* के 'विषम' ने नाटकी विरोधाभास (Dramatic circumstannial antithesis) को कितना उभार दिया है? *'भूप सयानप सकल सिरानी'* का ललित अलंकार (Eupherism) तो स्त्री-हृदयकी कोमलताका सजीव चित्रण ही है। *'हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई'* की कटुता और इस अर्धालीकी कोमलताका अन्तर विचारणीय है।

बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी॥६॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा॥७॥
रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥८॥

अर्थ—चतुर सखी कोमल वाणीसे बोली—हे रानी! तेजस्वी (पुरुष) को छोटा न समझना चाहिये॥ ६॥ (देखिये तो) कहाँ तो घटसे उत्पन्न अगस्त्यजी (कितने छोटे) और कहाँ अपार समुद्र? (फिर भी) उन्होंने उसे सोख लिया। सारे संसारमें उनका सुन्दर यश (फैला हुआ) है॥ ७॥ सूर्य्यमण्डल देखनेमें छोटा लगता है, पर उसके उदयसे तीनों लोकोंका अन्धकार भाग जाता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'चतुर सखी*………' इति। समझानेमें मृदुवाणी बोलना, यह भी चतुरता है। पुनः उसकी दूसरी चतुरता उदाहरण देनेमें भी दिख रही है कि उसने चुनकर वह-वह नाम दिये जो देखनेमें छोटे हैं पर जिन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं। तीसरी चतुरता यह है कि जितने संशय रानीके हैं उन सबोंको यह दूर कर रही है। अर्थात् सिद्ध कर रही है कि *'हितू'* कौतुकी नहीं हैं, श्रीरामजी लघु नहीं हैं और न राजाकी *'सयानप सिरानी'* है। (ख) *'तेजवंत लघु गनिअ न'* इति। इस समय श्रीरामजीकी बड़ाईका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका तेज है, यथा—*'उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग'* इसीसे यह सखी तेजका ही प्रमाण देकर श्रीरामजीकी बड़ाई करती है। रानीने श्रीरामजीको लघु समझ रखा है, यथा—*'सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं',* इसीसे सखी कहती है कि उनको लघु न गिनिये। (ग) *'रानी'* अर्थात् ये बात तुम जानती हो कि तेजस्वी छोटे नहीं होते, क्योंकि तुम रानी हो। (राजा-रानी स्वयं तेजस्वी होते हैं तभी तो प्रजा उनका शासन मानती है, यह बात आप जानती हैं।)

नोट—१ प्रथम ही 'चतुर' विशेषण देकर जना दिया कि यह सब संदेह दूर कर देगी। चतुर ही संशयको दूर कर सकता है। पुनः चतुर है, जानती है कि कठोरतासे उपदेश लगता नहीं, इसीसे 'मृदु' वाणीसे समझा रही है। रानी सारा दोष राजा और मन्त्री आदिके सिर रखती है, यह उसका खण्डन

नहीं करती, क्योंकि यदि प्रथमहीसे बात काट चले तो रानी सुनें या न सुनें, यदि कहती कि नहीं राजा तो बड़े चतुर हैं, गुरु त्रिकालज्ञ हैं, तो भी रानी क्यों मानतीं? अतः राजाकी बात उड़ाकर श्रीरामजीके तेज, प्रताप, शक्ति इत्यादिकी प्रतीति उदाहरण दे-देकर कराती है। प्रथम यह कहकर कि तेजवान्‌को छोटा न समझना चाहिये, यह सूचित किया कि इनके तेजके आगे सुर-असुर आदि सभी तुच्छ हैं। पर रानीके हृदयमें तो इनकी किशोरावस्था और सुकुमारता जमी हुई है, इससे देखनेमें जो छोटे हैं उनके उदाहरणोंसे समझाना प्रारम्भ किया। इस तरह दिखाती है कि केवल आकार देखकर पराक्रमका निर्णय नहीं हो सकता।

टिप्पणी—२ (क) *'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा'* इति। अगस्त्यजीके आकारकी लघुता दिखानेके लिये 'कुम्भज' नाम दिया और समुद्रकी बड़ाई दिखानेके लिये 'अपार' कहा। इस तरह दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर दिखाया। कहाँ घटसे उत्पन्न पुरुष और कहाँ समुद्र! (कुम्भ दिन-रात कूपसे जल निकाला करता है पर पार नहीं पाता। उस कुम्भसे उत्पन्न थे, छोटे आकारके मुनि हैं। वि० त्रि०) (ख) *'सकल संसारा'* अर्थात् समस्त संसारमें यह बात विदित है। इससे जनाया कि यह प्रामाणिक इतिहास है। (ग) *'सुजसु'* इति। 'सुयश' शब्दसे यश और सुयश दो बातें दिखायीं। भाव कि समुद्रको तीन आचमनमें पी लिया, यह 'यश' हुआ और उसे पुनः प्रकट कर दिया, यह 'सुयश' हुआ। (घ) धनुष अपार समुद्र है जिसमें सब राजा डूब गये, किसीने पार न पाया। उसी धनुषरूपी सागरको श्रीरामजी कुम्भजकी तरह सोख लेंगे अर्थात् उसे सहज ही तोड़ डालेंगे।—यह कुम्भजके उदाहरणका भाव है।—[यह केवल प्रताप है। प्रतापी छोटा भी हो तो उसका प्रभाव, बल, पराक्रम छोटा न समझना चाहिये।]

नोट—२ *'कुम्भज'—'बालमीक नारद घटजोनी।'* (३। ३) भाग १ में देखिये। समुद्रशोषणकी कथा *'कुंभज लोभ उदधि अपार के।'* (३२। ६) भाग १ में देखिये। संक्षिप्त कथाएँ ये हैं—(१) कालेय दैत्यगण देवताओंके डरसे समुद्रमें जा छिपे थे। रात्रिमें निकलकर ऋषियों-मुनियोंको खा डालते थे, देवताओंकी प्रार्थना सुन सबका कष्ट दूर करनेके लिये उन्होंने समुद्रतटपर जाकर चुल्लू लगाकर उसे पी लिया। तब देवताओंने दैत्योंका नाश किया। (स्कंदपु० नागरखण्ड, महाभारत वनपर्व, पद्मपु० सृष्टिखण्ड) (२) समुद्र एक चिड़ियाके अण्डोंको बहा ले गया, इसपर उसने समुद्रको उलच डालनेकी प्रतिज्ञाकर चोंचोंमें उसका जल भर-भरकर बाहर फेंकना शुरू किया। यह तमाशा देख उसपर तरस खाकर आपने समुद्रको सोख लिया। (३) एक बार जब आप समुद्रतटपर पूजन कर रहे थे, समुद्र पूजन-सामग्री बहा ले गया, अतः रुष्ट होकर आपने उसे पी लिया। (२) (३) का प्रमाण हमें अभीतक नहीं मिला।

नोट—३ वै० भू०—अगस्त्यजीके दृष्टान्तसे संदेह हुआ कि यदि श्रीरामजी धनुषको तोड़कर जोड़ भी देंगे, जैसे अगस्त्यजीने फिर समुद्रको भर भी दिया तो कुतर्कियोंको कुचोद्य करनेका कुछ अवकाश मिल सकता है, जिससे वे आगे विवाहमें विघ्न डालनेका प्रयत्न कर सकेंगे। वह सन्देह सूर्यके दृष्टान्तसे नष्ट हो गया। क्योंकि सूर्य तमका नाश करके पुनः उसकी सृष्टि नहीं करते।

टिप्पणी—३ (क) *'रबिमंडल देखत लघु लागा'* इति। रविमण्डलका भाव कि सूर्यदेवकी जो नराकार मूर्ति है, मैं उसका नहीं किन्तु रविमण्डलका हाल कहती हूँ। वह मण्डल कई योजनका है पर देखनेमें छोटा लगता है। वैसे ही श्रीरामजी बहुत बड़े हैं पर देखनेमें छोटे मालूम होते हैं। (ख) *'उदय तासु त्रिभुवन तम भागा'*—यहाँ भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक यही 'त्रिभुवन' है, इन्हींका अन्धकार नष्ट होता है। (ग) सूर्यके उदाहरणका भाव कि प्रत्यक्ष ही श्रीरामजी सूर्यके समान उदय हुए हैं। *'उदित उदय.........'*। इसीसे सूर्यका उदाहरण दिया। ☞ यहाँ धनुष *'तम'* है, यथा-*'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥'* (२३९। १) रामजी सूर्य हैं। जैसे सूर्यके उदयमात्रसे बिना परिश्रम अन्धकार नष्ट हो जाता है, यथा—*'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा।'* (२३९। ४) वैसे ही श्रीरामजीसे बिना परिश्रमके धनुषका नाश होगा। ☞ रविमण्डलको लघु कहा, इसीसे तमको भारी कहा।

नम त्रिभुवनमें है, इससे भारी कहा। (घ) ☞ यहाँतक नाश करनेके उदाहरण दिये। आगे वश करनेका उदाहरण देती है।

नोट—४ अगस्त्य और समुद्र, रवि और त्रिभुवनतम इत्यादिके प्रमाण देकर जनाती है कि श्रीरामजी धनुष तो तोड़ सकते हैं, यह असम्भव नहीं। यहाँ 'सम्भव प्रमाण अलंकार' है। रविमण्डलका उदाहरण देकर यह भी जनाया कि इनके तेज-प्रतापके आगे वह स्वयं ही नमित और नष्ट हो जायगा, यथा—'***कोउ कहै तेज प्रताप-पुंज चितये नहिं जात, भिया रे। छुअत सरासन-सलभ जरैगो ऐ दिनकर-बंस-दिया रे।***' (गी० १। ६६) पुनश्च, यथा—'***देखिअत भूप भोर के से उड़गन गरत गरीब गलानि हैं। तेज प्रताप बढ़त कुँवरनिको जदपि सकोची बानि हैं। बय बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानिहैं। अवसि राम राजीव बिलोचन संभु सरासन भानिहैं।***' (गी० ७८) रविकी उपमा तेज और प्रताप दोनोंकी दी जाती है, यथा—'***रबि सम तेज सो बरनि न जाई***', '***यह प्रताप रबि जाके उर जब करै प्रकास***……।'

नोट—५ (क) पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'मिथिलापुरीमें जो दुःख उमड़ रहा है उसको सोखनेको ये अगस्त्य हैं, मोहान्धकारके नाशके लिये सूर्य हैं और जो कहो कि यह धनुष देवताका है, किसीसे न टूटेगा, उसपर मन्त्रका दृष्टान्त देते हैं।' (ख) वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ 'उपमान और प्रमाण अलंकार' है। इससे यह व्यञ्जित होना कि रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे 'लक्षणमूलक गूढ़ व्यंग' है।

दो०—मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब॥ २५६॥

अर्थ—मन्त्र अत्यन्त छोटा है जिसके वशमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि समस्त देवता हैं। छोटा-सा अंकुश महा मतवाले गजराजको वशमें कर लेता है॥ २५६॥

टिप्पणी—१ '***मंत्र परम लघु***……' इति। (क) प्रणव एक अक्षरका है इसीसे उसे '***परम लघु***' कहा।* प्रणवकी तीन मात्राएँ त्रिदेवमय हैं।† इसीसे उससे त्रिदेवका वश होना कहा, प्रणवसे कोई छोटा नहीं और विधि-हरि-हरसे कोई बड़ा नहीं। प्रणव ब्रह्म ही है, यथा—'**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**।' ब्रह्मके आराधनसे सब वशमें हो जाते हैं। ☞ रानीने श्रीरामको परम लघु '***बाल हंस***' की उपमा दी, इसीसे सखी '***परम***

---

* किसी भी देवताके मन्त्रमें जबतक प्रणव आदिमें नहीं होगा तबतक वह शक्तिहीन रहता है। देवताके नाममें प्रणव, चतुर्थी विभक्ति और नमः जोड़नेसे उसका मन्त्र बनता है। यथा नारदपाञ्चरात्रमें—'प्रणवादी नमोऽन्तं च चतुर्थ्यन्तं च सत्तम। देवतायाः स्वकं नाम मूलमन्त्रः प्रकीर्त्तितः॥' इसीसे किसी देवताका मन्त्र प्रणवसे लघु हो ही नहीं सकता।

प० प० प्र०—(क) 'मन्त्र परम लघु' से केवल प्रणव समझना भूल है, क्योंकि प्रत्येक देवताका एकाक्षर मन्त्र होता है, जिसको उस देवताका बीज कहते हैं। जैसे 'रां' एकाक्षर राममन्त्र है, रामबीज है; 'गं' और 'ग्लौं' एकाक्षर गणेशमन्त्र है 'गं' बीज है। 'श्रीं' एकाक्षर रमामन्त्र है। जिनको प्रणवका अधिकार है, उनको ही एकाक्षर राममन्त्रका अधिकार है—देखिये रामार्चनचन्द्रिका, अगस्त्यसंहिता वा रामोपनिषद्। (ख) प्रणवविहीन मन्त्र शक्तिहीन होता है यह भी अर्धसत्य है, क्योंकि राममन्त्रोंके लिये प्रणवकी अपेक्षा नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु 'विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्या विनैव हि। विनैव न्यासविधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः॥' ऐसा प्रभाव राममन्त्रोंका अगस्त्यसंहितामें कहा गया है। एक अक्षरसे ३२ अक्षरोंतक राममन्त्र हैं। षडक्षर मन्त्रके मुख्य ६ भेद, ३६ भेद एवं १२८ भेद हैं। (रामरहस्योपनिषद्) स्वाहा, फट्, वषट्, वौषट्, हुम् और नमः, इनमेंसे षडक्षर मन्त्रमें अन्तमें एक हो सकता है। 'रामकी चतुर्थी भी सभी राममन्त्रोंमें नहीं है। उपनिषदोंमें यह सब कहा है, अधूरे वचनोंसे पाठकोंकी बुद्धिमें भेद और भ्रम पैदा हो सकता है, इससे थोड़ा-सा लिख देना पड़ा।

† यथा—'अकारो वासुदेवः स्यात्', 'उकारः शंकरः प्रोक्तः', 'मकारः स्याच्चतुर्मुखः।' (एकाक्षरी कोश)। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि प्रणवकी पहिली मात्राके वाच्य विष्णु, दूसरीके ब्रह्मा और तीसरीके शिव हैं, अर्धमात्रामें वाच्य साक्षात् ब्रह्म हैं। अतः सभी प्रणवके वश हैं और ये (श्रीराम) साक्षात् प्रणवरूप हैं।—'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् अद्वैतपरमानन्द आत्मा यश्चोङ्कारः भूर्भुवः स्वः तस्मै वै नमो नमः।'

लघु' का उदाहरण देकर संदेह दूर करती है। रानीने परम लघुकी उपमा देकर सूचित किया था कि इनसे धनुष टूटना अत्यन्त असम्भव है; इसीसे सखीने परम लघुके उदाहरणमें भारी शक्ति और भारी काम दिखाया। परम लघुसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदिका वश होना कहा। पुनः (ख) *'परम लघु''''सुर सर्ब'* का भाव कि सब देवताओंके पञ्चाङ्ग होते हैं। कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम, पटल और पद्धति। इनकी अपेक्षा सब देवताओंके मन्त्र परम लघु हैं। सब देवता अपने-अपने मन्त्रके वशमें हैं। (कोई भी देवता दूसरे देवताके मन्त्रके अधीन नहीं है, परंतु परम लघु मन्त्र प्रणवके अधीन सभी हैं; इसीसे *'मंत्र परम लघु'* से 'सर्व सुरों' का वशमें होना कहा।) अथवा (ग) कुम्भज, सूर्यमण्डल, अंकुश और काम ये सब लघु हैं और मन्त्र परम लघु है।

टिप्पणी—२ *'महामत्त गजराज'''''''''* इति। हाथीकी बड़ाई दिखानेके लिये *'महा गजराज'* कहा और अंकुशकी छोटाई दिखानेके लिये *'खर्ब'* कहा। तात्पर्य कि इतना छोटा इतने बड़े भारीको वश कर लेता है, वश करनेके विचारसे (महा) मत्त पद दिया, क्योंकि जो सीधा है उसका वश करना क्या? वह तो स्वयं वशमें है।

टिप्पणी—☞ ३—पाँच उदाहरणोंसे चारों पदार्थोंकी सिद्धि दिखाते हैं। यथा—(क) *'कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा॥'* समुद्र सोख लेनेसे रत्न सब प्रकट हो गये—यह अर्थकी सिद्धि हुई। *'महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब।'* हाथी अर्थ है। हाथीका वश होना यह भी अर्थसिद्धि हुई। लक्ष्मी दो प्रकारकी है—एक स्थावर दूसरी जङ्गम। इसीसे अर्थके दो उदाहरण दिये। (ख) *'रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥'* सूर्यके उदयसे धर्मकी सिद्धि हुई क्योंकि सूर्य धर्मके अधिष्ठान (अधिष्ठातृदेवता) हैं। (ग) *'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥'* कामके वश होनेसे कामकी सिद्धि हुई। और (घ) *'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब॥'* मन्त्र-जापसे विधि-हरि-हर आदि वश हुए। इससे मोक्षकी सिद्धि हुई। तात्पर्य कि जिस लघुसे चारों पदार्थोंकी सिद्धि होती है उसको लघु कैसे कह सकते हैं? [इस टिप्पणीके पढ़नेके पश्चात् वे० भू० जी लिखते हैं कि मन्त्रसे भक्तिकी सिद्धि दिखायी। मन्त्र जपना भक्ति है। यथा—*'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥'* सम्पूर्ण दृष्टान्तोंके एकमात्र दार्ष्टान्त श्रीरामजीको कहकर मोक्षकी सिद्धि दिखायी गयी। कारण कि अन्य तीन फलोंका समावेश मोक्षमें ही होता है और मोक्षप्रदाता एकमात्र श्रीहरि ही हैं, जैसा श्रीमुचुकुन्दजीसे कहे हुए देवताओंके **'वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः। एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥'**(भा० १०। ४७। २८) से स्पष्ट है। (ङ) यहाँ 'द्वितीय भावना अलंकार' है।]

नोट—१ नंगे परमहंसजीका मत है कि मन्त्रके दृष्टान्तसे जनाया कि 'जैसे मन्त्रमें ऐसी शक्ति है कि ब्रह्मादि देवता उसके वश हैं, वैसे ही श्रीरामजी छोटे हैं पर उनमें 'बुद्धिकी ऐसी शक्ति है कि धनुषको वश करनेकी कौन कहे तीनों लोकोंको वश कर सकते हैं।' और जैसे अंकुश अपने गुणसे महामत्त गजराजको वश करता है वैसे ही श्रीरामजी गुणोंसे युक्त हैं।

नोट—२ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजी मन्त्ररूप हैं। शिवजी राममन्त्रके उपासक हैं और धनुष *'बिधि हरि हर सुर सर्ब'* में है। अतः रामजीके छूते ही टूट गया। पुनः धनुष महामत्त गजराज है। मनको गज कहा है—*'मन करि बिषय अनल बन जरई।'* श्रीरामजी अपने चरणमें अंकुश—चिह्न धारण किये हैं, जिससे मनमतङ्ग वश होता है—*'मनही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताहि ते अंकुश लै धारयो हिये ध्याइए।'* (भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमाल)

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥ १॥
देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी॥ २॥

अर्थ—कामदेवने फूलोंका धनुषबाण लिये हुए सारे ब्रह्माण्डको अपने वश कर लिया॥ १॥ हे देवि! ऐसा जानकर संदेह छोड़िये। हे रानी! सुनिये रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे॥ २॥

नोट—१ कामदेवके धनुष और बाण दोनों ही पुष्पोंके हैं। यथा—*'अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥'* (८४। ३) *'ते रतिनाथ सुमन सर मारे।'* (२। २५) 'कुसुम' का अर्थ 'फूल' है। किस-किस फूलके बाण हैं यह दोहा ८३ (८) भाग २ में देखिये। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि महाकवियोंने इक्षु (गन्ना, ईख) को ही कामदेवका धनुष माना है। महाकवि मयूर इक्षुकी अन्योक्ति करते हुए कहते हैं **'कान्तोऽसि नित्यमधुरोऽसि रसाकुलोऽसि किं चासि पञ्चशरकार्मुकमद्वितीयम्। इक्षो तवास्ति सकलं परमेकन्यूनं यत्सेवितो निरसतां भजते क्रमेण॥'** (अन्योक्तिकल्पद्रुम), **'कोदण्डमैक्षवखण्डमिषुं च पौष्पम्'**……' (श्रीकृष्णकरुणामृत शतक २ श्लोक ११०)। अतएव अर्थ हुआ—'कामदेवने ईखका धनुष और पुष्पोंके बाण लेकर……।' (सखीगीता)। मेरी समझमें 'कुसुम' का अर्थ यहाँ 'पुष्प' ही है। यह प्रसङ्ग भोजप्रबन्धसे मिलता-जुलता है। वहाँ **'धनुः पौष्पम्'** है वैसे ही यहाँ। विशेष टिप्पणी १ व ३ में देखिये।

टिप्पणी—१ (क) *'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे'* इति। भाव कि बड़े-बड़े वीर लोग बड़े-बड़े शस्त्रास्त्रोंके प्रयोग करनेपर भी सारे भुवनको वश नहीं कर सकते, और काम पुष्पोंसे मारकर सबको वशमें कर लेता है। *'धनु सायक लीन्हे'* का भाव कि वह वीर है, बड़े-बड़े वीरोंको अपने वशमें उसने कर लिया अर्थात् कामी बना दिया, यथा—*'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥'* (२। २५) (ख) वश करना तीन प्रकारसे होता है। एक तो दुःख देकर, दूसरे सुख देकर और तीसरे साधारणतया ही न सुख देकर न दुःख देकर। इसीसे यहाँतक वश करनेके तीन उदाहरण दिये।—*'महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब'* यह शरीरको दुःख पहुँचाकर वश करना है। *'काम कुसुम धनु सायक'*……' यह सुख देकर वश करनेका उदाहरण है। और *'मंत्र परम लघु जासु बस'*……' यह साधारण ही वश करता है, इसमें शरीरको दुःख-सुख कुछ नहीं है। (यहाँ भी 'द्वितीय विभावना अलंकार' है।)

नोट—२ (क) पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'तुम इन्हें हंसबच्चा सच ही कहती हो, पर ये शृङ्गार और वीररससे भरे हैं, जैसे काम फूलधनुषसे सारे विश्वको वशमें किये है। (ख) नंगे परमहंसजीका मत है कि जैसे कामदेवके धनुष-बाण पुष्पके हैं, पर उन्हींसे अपने बलसे वह त्रिभुवनको वश करता है, वैसे ही श्रीरामजी कुसुमकी भाँति सुकुमार हैं, पर बलयुक्त होनेसे ब्रह्माण्डको वश कर सकते हैं। (ग) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'श्रीरामजी कामरूप हैं—*'कोटि मनोज लजावनिहारे।'* जिन परशुरामजीने *'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही'* उनको फूल-समान मृदु वचनोंसे जीत लिया।' (घ) वे० भू० जी कहते हैं कि काम और अङ्कुशके दृष्टान्तसे दिखाया कि श्रीरामजीमें कोमलत्व और काठिन्य दोनों गुण हैं, यथा—*'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।'* (७। १९)

टिप्पणी—२ *'देवि तजिअ संसउ अस जानी।'*……' इति। संशय त्याग करनेमें *'देवि'* सम्बोधन किया। भाव कि आप दिव्य हैं, आपका ज्ञान दिव्य है, आपको तो ऐसा संशय करना ही न चाहिये, यथा—*'को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हहि सकहि उपदेसि।'* (२। २८३) मैं भला आपको क्या समझा सकती हूँ? और *'भंजब राम धनुष'* यह कहनेमें 'रानी' सम्बोधन देनेका तात्पर्य कि आप रानी हैं, सुखकी अधिकारिणी हैं, आपको सुख मिलेगा। [पुनः, दिव्यज्ञानको उपदेशकी आवश्यकता नहीं, उसे क्या समझना है, इस भावसे *'देवि'* और रानीको सलाह दी जा सकती है, जैसे राजाको मन्त्री उचित सलाह देते हैं, अतः संदेह दूर करनेमें और विश्वास दिलानेमें 'रानी' कहा (मा० सं०)। वा, पट्टाभिषिक्ता महिषीको 'देवी' कहते हैं, ये पटरानी हैं ही। (वि० त्रि०)]

नोट—३ *'तजिअ'* यह शिष्ट पुरुषोंकी बोली है। शिष्ट पुरुषों तथा अपनेसे बड़ोंसे बोलनेमें इस तरहका प्रयोग होता है। यथा—*'करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥'* (३३। ८) *'तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥'* (२। २६८) इत्यादि। *'तजहु'* न कहा क्योंकि

इससे कहनेवालेका बड़प्पन प्रकट होता है। नित्यकी बोल-चालमें प्रायः इस तरहका प्रयोग अपनेसे छोटेके लिये होता है। यथा—'***कोउ नहिं सिवसमान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥***' (१३८। ६) '***तजहु आस निज निज गृह जाहू***'। संशयका त्याग करनेको कहा; क्योंकि बिना इसके त्यागके चिन्ता और व्याकुलता बनी ही रहेगी। रानीने '***बचन कहे बिलखाइ***' इसीसे कहा कि '***तजिअ संसउ***'।

☞ टिप्पणी—३ यहाँतक पाँच दृष्टान्त देकर श्रीरामजीमें पाँच गुण दिखाती है। वह यह कि उनमें अगस्त्यका-सा सामर्थ्य है, सूर्यका-सा तेज है, अङ्कुशकी तरह उनका शरीर दृढ़ है, मन्त्र-जैसा प्रभाव है और कामके समान सौन्दर्य है। जैसे इन पाँचोंको पाँच काम करना सुगम है, वैसे ही श्रीरामजीको धनुष तोड़ना सुगम है। '***काम कुसुम धनु सायक लीन्हे***·········'। यह कहकर तब '***भंजब राम धनुषु***······'। कहनेका भाव कि जैसे काम कुसुमका धनुष लिये हैं, वैसे ही कुसुमके धनुषकी तरह श्रीरामजी शिवधनुषको हाथमें उठाकर तोड़ेंगे, यह भाव दिखानेके लिये कामका उदाहरण सबके पीछे दिया गया।

नोट—४ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि कुम्भजादि चार दृष्टान्त छोटेके लिये दिये और कामदेवका दृष्टान्त सुकुमारतापर दिया है।······श्रीरामजी इन पाँच ऐश्वर्योंसे युक्त हैं—प्रताप, तेज, बुद्धि, गुण और बल। इन्हीं पाँचों ऐश्वर्योंको सखीने पाँचों दृष्टान्तोंमें संशयनिवृत्तिहेतु रानीसे कहा है और इन्हीं पाँचोंको रावणने भ्रममें पड़के नाहीं किया है कि रामजीमें ये पाँचों ऐश्वर्य नहीं हैं। (प्रमाण) '***कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल प्रताप बुधि तेज न ताके॥ अगुन अमान जानि तेहिं दीन्ह पिता बनबास।***' (६। ३०) जिसमें ये पाँचों बातें रहती हैं, वही सब कार्य करनेमें समर्थ होता है।

नोट—५ पाँच दृष्टान्त देनेका क्या कारण है? उत्तर—(क) एक-एक उदाहरण एक-एक गुणका देती गयी जो उसको दिखाने थे। (ख) प्रथम दृष्टान्त प्रतापीका तो था पर अगस्त्यजी ऋषि और प्रसिद्ध समर्थ परम शक्तिमान् महात्मा हैं। तब दूसरा दृष्टान्त 'रविमंडल' का दिया, पर रवि देखनेमें छोटे लगते हैं जरूर, किन्तु पृथ्वीभरको वे और उनका तीक्ष्ण तेज प्रत्यक्ष देख पड़ता है। यह विचारकर मन्त्रका दृष्टान्त दिया कि यह तो छोटा है पर इसके भीतर कितनी शक्ति गुप्त है, वैसे ही श्रीरामजीमें शक्ति गुप्त है। यह छोटा है पर देवरूप है, (मन्त्र जड़ है। उसको चेतन करना पड़ता है। गुरु उसे विधिपूर्वक देता है। मन्त्र सिद्ध करनेमें बहुत कष्ट होता और समय लगता है। प० प० प्र०) अतः अङ्कुशका उदाहरण दिया। पर वह कठोर है (सखी चतुर है, उसने जान लिया कि रानीके मनमें रघुवीरकी मनोहरता, लावण्य और सुकुमारता छायी हुई है, अन्य दृष्टान्तोंसे काम न चलेगा। प० प० प्र०), इससे सुन्दर श्याम और सुकुमार कामका दृष्टान्त दिया। अब सर्वाङ्ग पूर्ण हो गये। (ग) संदेहनिवारणार्थ वक्ताको अधिकार है कि जबतक संदेहकी निवृत्ति न हो तबतक वह बराबर दृष्टान्त देता जा सके, अतः उसी तरह सखी जब समझ गयी कि अब संदेह नहीं रह सकता तब उसने उदाहरण देना बंद किया।

वि० त्रि०—पाँच उदाहरणोंका भाव कि पञ्चमहाभूतोंमें तेजस्वीकी ही प्रधानता है। धनुष पञ्चभूतके बाहरकी वस्तु नहीं है, अतः इसे निश्चय ही तेजस्वीके वशीभूत होना पड़ेगा। '***कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा***' से रस, रविमण्डलसे रूप, मन्त्रसे शब्द, अङ्कुशसे स्पर्श और '***कुसुम धनु***' से गन्ध कहा।

नोट—६ इस प्रसङ्गसे मिलता हुआ एक प्रसङ्ग हनुमन्नाटक और दूसरा 'भोजप्रबन्ध' में भोज-सकुटुम्बविद्वद्विप्रसंवाद-प्रकरणमें मिलता है। हनु० ना० में कुछ भिल्लिनियोंने श्रीरामजीको लंकाके लिये पयान करते देख अपनी मातासे शंका की है कि इनके पास शस्त्र, शास्त्र (वा अस्त्र), हाथी, घोड़े, रथ, बैल, ऊँट, डेरा, धन तथा राजाओंकी अन्य कोई भी सामग्री नहीं है, प्रत्युत ये जटाधारी हैं, राजा भी नहीं हैं, (तब ये लंकाको कैसे जीतेंगे?) तब माताने समाधान किया है, यथा—'**विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिर्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः। तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥**'(अंक ७। ७) अर्थात् इन्हें लंकाको जीतना है, समुद्रको चरणोंहीसे

तरना है। रावण इनका शत्रु है। रणभूमिमें इनके सहायक वानर हैं, तो भी ये राम अकेले ही सम्पूर्ण शत्रुपक्षका नाश कर देंगे, क्योंकि महान् पुरुषोंकी कार्यसिद्धि पराक्रममें होती है, सामग्रीमें नहीं।

भोजप्रबन्धमें '**क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे**' इस समस्याकी पूर्तिमें चार श्लोक हैं जिनमेंसे एक हनु० ना० ७। ७ से मिलता-जुलता है, केवल तृतीय पाद भिन्न है। शेष तीन श्लोकोंमें 'कुम्भज' 'रवि' और 'काम' के उदाहरण हैं। यथा—'**घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनो वने वासः कन्दादिकमशनमेवंविधगुणः। अगस्त्यः पाथोधिं यदकृतकराम्भोजकुहरे क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ ६॥ रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि। रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः क्रिया**………॥ ७॥ **धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः। स्वयं चैकोऽनङ्गः सकलभुवनं व्याकुलयति क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥**' ९॥ अर्थात् जिनका जन्मस्थान घट, मृगादि परिजन, भोजपत्र वस्त्र, कन्दादि भोजन और वनमें निवास है, ऐसे सामान्य परिस्थितिवाले अगस्त्यजीने अथाह सागरको एक चुल्लूभरका कर दिया। इससे जाना जाता है कि महान् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके आत्मबलसे ही होती है न कि सामग्रीके बलसे। ७। जिनका रथ एक ही चक्रवाला है, सातों घोड़ोंकी लगामें सर्पोंकी हैं, सर्पोंहीसे रथमें घोड़े जुते हुए हैं, मार्ग निरालम्ब और अथाह है, सारथी पङ्गुल है, ऐसे सूर्य भी प्रतिदिन अथाह आकाशको पार कर लेते हैं, इससे निश्चय है कि महान्………। ८। जिनका धनुष फूलका है, प्रत्यञ्चा भ्रमरात्मिका है, बाण स्त्रियोंके चञ्चल कटाक्ष हैं, जड़ात्मा चन्द्रमा सुहृद् है, जो स्वयं अकेला और शरीररहित है, उस कामदेवने संसारको व्याकुल कर रखा है। इससे पाया जाता है……। ९।

उपर्युक्त श्लोकोंके चतुर्थ चरण '**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।**' की जोड़में यहाँ सखीका '*तेजवंत लघु गनिय न रानी।*' यह वाक्य है। दोनोंका भाव एक ही है। जैसे वहाँ '**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति**……' की सिद्धिके लिये चार दृष्टान्त दिये गये, वैसे ही यहाँ '*तेजवंत लघु गनिय न*' की सिद्धिके लिये पाँच दृष्टान्त दिये गये। '**घटो जन्मस्थानं**………**अगस्त्यः**' का सब भाव '*कहँ कुंभज*' में और '**पाथोधिं यदकृतकराम्भोजकुहरे**………' का भाव '*कहँ सिंधु अपारा सोख्यो*' में है। जैसे वहाँ दूसरा दृष्टान्त रविका है वैसे ही मानसमें भी दूसरा दृष्टान्त रविमण्डलका है। वहाँ सामग्रीका प्रकरण है, इसलिये अपूर्ण सामग्रियोंके होते हुए बड़ा काम करनामात्र कहा गया और यहाँ तेजस्वी 'का देखनेमें लघु होनेका' प्रकरण है, इसलिये तेजस्वी रविमण्डलका देखनेमें लघु होना कहकर उसका बड़ा प्रभाव तमनाश कहा गया। वहाँका '**रथस्यैकं चक्रं**……**रविः**' रविमण्डलमें आ गया। '**क्रियासिद्धिः**………' का तीसरा दृष्टान्त '**राम**' का है। एक भोजप्रबन्धमें और एक हनु० ना० में; वैसे ही यहाँ तीसरा दृष्टान्त '*मंत्र परम लघु*' का और चौथा अंकुशका, दोनों एक ही दोहेमें हैं।

अन्तिम दृष्टान्त दोनोंमें कामदेवका है। वहाँ समस्याकी पूर्ति इसी दृष्टान्तपर समाप्त हुई; वैसे ही यहाँ '*तेजवंत लघु गनिय न*' की पूर्ति इसी दृष्टान्तपर हुई।

यह प्रसङ्ग नगरदर्शनवाली सखियोंके संवादमेंके अन्तिम वाक्योंसे भी मिलाने योग्य है। यहाँके '*तेजवंत लघु गनिय न रानी*' में वहाँके '*बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं। परसि जासु पद पंकज धूरी॥ तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें।*' (२२३। ४—६) इस वाक्यका सब भाव भरा हुआ है, जो प्रत्येक दृष्टान्तके अन्तमें उसी तरह कहा जा सकता है, जैसे—'**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे**' श्लोकोंके अन्तमें कहा गया है। '*देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी॥*' की जोड़में नगरदर्शनमें '*सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥*' है।

जा० मं० में भी रानीने सखियोंसे कहा है—'*कहँ कठिन सिवधनुष कहँ मृदु मूरति।*………' (४६) तब रानीको शोचयुक्त देख सखीने समझाया है। यथा—'*देवि! सोच परिहरिय हरष हिय आनिय। चाप चढ़ाउब राम बचन फुर मानिय॥*' (४७) ……*सुनि जिय भएउ भरोस रानि हिय हरषइ*………' (४९)

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी—'*सखि सब कौतुक देखनिहारे*……*सकल भुवन अपने बस कीन्हे।*' इति। सखि

शब्दसे सम्भवतः मन्त्रीकी स्त्री अभिप्रेत है। सुनयना महारानी पाँच बातें कहती हैं—(१) *'सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥'* (२) *कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं। ये बालक असि हठ भलि नाहीं॥* (३) *रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ सो धनु राजकुअँर कर देहीं।* (४) *बाल मराल कि मंदर लेहीं।* (५) *भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जाति न जानी॥'*

इस कथनमें मन्त्री, गुरुजी तथा राजा तीनोंपर आक्षेप है। सखी *'तेजवंत लघु गनिअ न रानी'* कहकर सबका निराकरण करती है, तथा कुम्भज, रविमण्डल, मन्त्र, अंकुश और कुसुमधनुका उदाहरण देकर क्रमशः रस, तेज, शब्द, स्पर्श और गन्ध (जो कि ब्रह्माण्डके कारण हैं) में भी तेजस्वीका विजय दिखलाते हुए अलग-अलग पाँचों बातोंका उत्तर भी उसने दे दिया।

(१) वह कहती है कि लोग कौतुक देखनेवाले नहीं हैं, वे जानते हैं कि कुम्भजने समुद्र सोख लिया, उनका सुयश जगत्‌में व्याप्त है। (२) गुरुजी हठ नहीं कर रहे हैं, वे रविमण्डलकी वास्तविक महत्ताको जानते हैं, उनकी दृष्टिमें रविमण्डल छोटा नहीं है। (३) वे परम लघु मन्त्रकी महामहिमासे परिचित हैं। (४) महाराज बड़े सयाने हैं, वे दिन-रात खर्ब अंकुशकी कार्यकारिताका अनुभव किया करते हैं। (५) कामके कुसुम धनु सायकके महाप्रभावको जानते हैं, अतः महातेजस्वी रामचन्द्र (*'जिनके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥'*) को धनुष-भङ्गके लिये जानेसे नहीं रोकते। क्योंकि *'भंजब धनुषु राम सुनु रानी'*; अतः महारानी सुनयनाको सखीके वचनसे विश्वास हुआ।

सखी बचन सुनि भै परतीती। मिटा बिषादु बढ़ी अति प्रीती॥ ३॥

अर्थ—सखीके वचन सुनकर रानीको विश्वास हुआ, दुःख मिटा और अत्यन्त प्रेम बढ़ा॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'भै परतीती'* इस कथनके अभ्यन्तर यह आशय निकलता है कि रानीको श्रीरामस्वरूपमें संशय था, वह संशय दूर हो गया और श्रीरामजीका स्वरूप उनको जान पड़ा; क्योंकि जब संशय दूर हो जाता है तभी रामस्वरूप जान पड़ता है और स्वरूप जाननेपर ही प्रतीति होती है और प्रतीति होनेपर प्रीति होती है, यथा—*'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ नाथ कृपा अब गएउ बिषादा।'* (१२०। २-३) *'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥'* (७। ८९) (ख) *'मिटा बिषादु'* भाव कि संशयरूपी सर्पने ग्रस लिया था, कुतर्करूपी लहरें आ रही थीं, उसीका विषाद था सो मिट गया; यथा—*'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहुब्राता॥'* (७। ९३) *'संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस तर्क बिषादः॥'* (३। ११। ९) (ग) *'बढ़ी अति प्रीती'* इति। भाव कि रानीकी श्रीरामजीमें पहले भी अति प्रीति थी, यथा—*'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥'* (२४२। ३) बखानी नहीं जाती अर्थात् 'अति प्रीति' है। वही 'अति प्रीति' रामस्वरूप जाननेसे यहाँ बढ़ी। (पहले बिना सम्बन्धके प्रीति थी, अब सम्बन्धकी आशा दृढ़ होनेसे अति प्रीति बढ़ी। वि० त्रि०) ४ ☞ रानीको श्रीरामस्वरूप हृदयमें जान पड़ा, उन्होंने उसे मुखसे नहीं कहा; इसीसे यहाँ चौपाईमें भी श्रीरामस्वरूपका जानना गुप्त है। पार्वतीजीने उसे कहा था इससे वहाँ प्रकट करके कविने लिखा था, यथा—*'रामसरूप जानि मोहि परेऊ।'* यदि रानीने भी प्रकट कहा होता तो कवि लिखते।

गौड़जी—विषाद मिट गया। प्रीति बहुत बढ़ गयी। इसका कारण यह है कि अभीतक रानी अपने लड़केके भावसे ही सरकारको देखती थीं, साथ ही वात्सल्यके आत्यन्तिक उद्रेकसे उन्हें नितान्त सुकुमार समझती थीं। जब प्रतीति हुई कि उनका सामर्थ्य अपार है, *'राम चाप तोरब सक नाहीं'* (*भंजब राम धनुष*), तब तो प्रीति बढ़ गयी कि हमारा जामाता केवल हमारी या किशोरीजीकी पसंदसे विवाह न करेगा, बल्कि त्रैलोक्यविजयी और यशस्वी होकर बरेगा, तो प्रीति अत्यधिक बढ़ गयी।

श्रीराजारामशरणजी—इस अर्धालीमें कितनी सुन्दर आलोचना है। तुलसीदासजी अपनी कविताके बड़े ही सुन्दर आलोचक भी हैं। प्रत्येक परिस्थिति और वार्तापर आगे या पीछे उनकी आलोचना अवश्य होती है। इसीसे हम भ्रम और भूलमें नहीं पड़ते। शैक्सपियरकी कलामें 'कवि' हमारा पथप्रदर्शक नहीं, इसीसे

भूल होती है और भ्रम उत्पन्न होता है। यूनान देशके नाटकोंमें जो कामगायक समूह (Chorus) करता था वही काम तुलसीकी कलामें कवि करता है। हाँ, तुलसीदासकी कला अधिक स्वाभाविक है।

नोट—यहाँ 'भ्रान्त्यपह्नुति अलंकार' है। श्रीरामजीकी सुकुमारतासे रानीको उनके धनुष तोड़नेमें सन्देह हुआ। उस भ्रमको सत्य उदाहरण देकर सखीने दूर किया। कुम्भज और धनुष, रविमण्डल और त्रिभुवन-तम, इत्यादिके प्रमाण देकर जनाती है कि रामजी धनुष तोड़ सकते हैं, यह असम्भव नहीं—'सम्भव प्रमाण अलंकार' है।

वे० भू०—श्रीहारीतजीका कहना है कि अर्थपञ्चक ज्ञान ही समस्त निगमागमादि सच्छास्त्रोंका निचोड़ ज्ञानतत्त्व है; यथा—'**प्राप्तस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥**' यहाँ 'सखीगीता' में वर्णित है कि सखीका वचन सुनकर रानीके हृदयमें श्रीस्वरूपके बोध होने 'तत्त्वपरिज्ञान' से श्रीरामजीमें (श्रीहनुमत्संहितामें कथित) 'संप्रीति', '*नित्या प्रीति*' हुई। उसीको यहाँ '*बढ़ी अति प्रीती*' कहकर जनाया है। सखीने प्रकारान्तरसे यहाँ अर्थपञ्चकके 'प्राप्यस्वरूप' का ही कथन किया है।

तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥ ४॥
मन ही मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस भवानी॥ ५॥
करहु सफल आपनि सेवकाई। करि* हितु हरहु चाप गरुआई॥ ६॥

अर्थ—('*सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त मंजु बर कुंजर गामी॥ चलत राम सब पुर नर नारी। पुलक पूरि तन भए सुखारी॥*') तब (ठीक उसी चलते समय) श्रीरामजीको देखकर विदेहनन्दिनी श्रीजानकीजी भयभीत हृदयसे जिसी-तिसी (देवता) की विनती करने लगीं॥ ४॥ वे व्याकुल होकर मन-ही-मन मना रही हैं—हे महेशभवानी! प्रसन्न हूजिये॥ ५॥ अपनी सेवा (अर्थात् जो सेवा मैंने आजतक आपकी की और कभी कुछ फलकी याचना नहीं ही की, उस सेवाको) सफल कीजिये और मुझपर प्रेम-स्नेह वा कृपा करके धनुषके भारीपनको हर लीजिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) '*तब रामहि*' का सम्बन्ध २५५ (५-६) '*सहजहि चले*'……'*चलत राम*' से है। बीचमें पुरनर-नारियों और श्रीसुनयना आदि रानियों और सखियोंके स्नेह और प्रेम इत्यादिको कहकर अब इनके मनकी दशा कहते हैं। कवि एक ही है, इससे एकके बाद एकको लिखता है पर सबके मनमें एक ही समय पृथक्-पृथक् भाव और विचार उत्पन्न हुए। (ख) '*रामहि बिलोकि*' इति। भाव कि श्रीरामजीको देखनेसे दर्शकको उनके द्वारा धनुषके टूटनेमें सन्देह हो जाता है जैसे श्रीसुनयना अम्बाजीने रामजीको देखकर सखियोंसे वचन कहे—'*रामहि प्रेम समेत लखि*……'। जैसे रामजीको देखकर उनकी सुकुमारता समझकर उनको संदेह हुआ, वैसे ही रामजीको देखते ही इनके चित्तमें भी उनकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरताका खयाल आ गया—यह भाव '*बिलोकि*' कहकर दरसाया। [(ग) '*बैदेही*' का भाव कि देखकर, कोमलता विचारकर देह-सुध न रह गयी, विह्वल हो रही हैं] (घ) '*सभय हृदय बिनवति*……' इति। श्रीरामजीकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरता समझकर भय है कि धनुष कैसे टूटेगा। इसीसे एक-एक करके देवताओंकी विनती करती हैं कि उसकी गुरुता और कठोरता हर लें, यथा—'*करहु सफल*……*गरुआई*', '*बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥*' (चौ० ८) (ङ) '*जेहि तेही*' [अर्थात् जो ही देवता याद आता है, उसीसे प्रार्थना करने लगती हैं। यह विह्वलता और भयका चिह्न है। इसीसे वैदेही नाम भी यहाँ सार्थक है।] इससे जनाया कि व्याकुलताके कारण बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती। [भाव कि श्रीसीताजी आर्त हो गयी हैं। आर्तके विचार नहीं रह जाता। इसीसे वे '*जेहि तेही*' से विनय करती हैं। योग्य-अयोग्यका विचार ही

* १६६१ में 'कर' है। लेख-प्रमाद जान पड़ता है।

नहीं है। वे समर्थ देवताओंसे भी विनय करती हैं और जड़ धनुषसे भी कि जो स्वयं टूटनेको रखा है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) *'मन ही मन मनाव'* इति। भाव कि सुनयनाजीने अपने मनकी बात सखियोंसे कह दी—*'सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ',* पर ये मारे संकोचके किसीसे भी कह नहीं सकतीं। इसीसे दुःख और व्याकुलता बढ़नेसे मनहीमें मनाती हैं। *'सभय हृदय········॥ मन ही मन मनाव·······'* से यह बात जना दी कि हृदयहीमें विनय कर रही हैं, मनाती हैं, वचनसे कुछ नहीं कहतीं, यथा—*'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥'* (२५९। १) (ख) [दुःख कह देनेसे कुछ घट जाता है, यथा—*'कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई॥'* श्रीसुनयनाजीने कह डाला इससे उनकी व्याकुलता दूर हो गयी। श्रीसीताजी अपने हृदयका संदेह किसीसे कहती नहीं, इसीसे धनुष कैसे टूटेगा यह भय खाकर] *'अकुलानी'* अर्थात् बहुत व्याकुल हैं। (ग) *'होहु प्रसन्न महेस भवानी'* इति। यह आकुलताका स्वरूप दिखाते हैं कि महादेव-पार्वती तो उनपर प्रसन्न ही हैं, गौरीजीने अभी कल ही तो आशीर्वाद दिया है, यथा—*'सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी॥'* पर ये रामजीको देख पुनः उनके माधुर्यमें भूल गयीं, व्याकुल होनेसे आशीर्वादकी सुध जाती रही। इसीसे कहती हैं कि प्रसन्न हो, सेवा सुफल करो। (घ) *'आपनि सेवकाई'*। भाव कि आपको अपनी *'सेवकाई'* की लाज है कि हमारी सेवा कभी निष्फल नहीं होती। आपकी सेवा व्यर्थ नहीं जाती, इसीसे प्रार्थना है कि उसे सुफल कीजिये। (ङ) *'करि हितु हरहु चाप गरुआई'* इति। क्या फल चाहती हैं सो कहती हैं कि प्रथम प्रसन्न हूजिये, यह हित कीजिये। हित करके अर्थात् प्रसन्न होकर तब चापकी गुरुता हरण कीजिये जिससे हमारा हित है। ईश्वरमें सब सामर्थ्य है, चाहे रजको सुमेरु कर दें और चाहे सुमेरुको रेणु कर दें, यह समझकर चापकी गुरुता हरण करनेकी प्रार्थना करती हैं।

श्रीराजारामशरणजी—ऊपरकी टिप्पणियाँ बिलकुल ठीक हैं। श्रीसीताजी संकोचवश न तो किसीसे कहती हैं और न कोई उनको तसल्ली देता है। इसीसे उनके हृदयके भावोंका चित्रण तुलसीकी कलाके X Rays द्वारा ही हुआ है। कवि कितना आवश्यक है! यह चित्रण कितना स्वाभाविक और इसी कारण शैक्सपियरकी कलाकी स्वगत वार्ताओंसे कितना अधिक सुन्दर है! भावोंका निरीक्षण स्वयं कविने कर दिया है तो फिर किसी विशेष आलोचनाकी आवश्यकता ही नहीं। (भय और व्याकुलता)

गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा॥ ७॥
बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥ ८॥

अर्थ—हे गणोंके नायक श्रीगणेशजी! हे वरदान देनेवाले! हे देव! मैंने आजतक आपकी सेवा की॥ ७॥ बार-बार (की) मेरी बिनती सुनकर धनुषका भारीपन अत्यन्त कम कर दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'गननायक बरदायक देवा'* इति। ये तीन विशेषण देकर गणेशजीमें दाताके समस्त गुण दिखाये। दातामें तीन बातें होना जरूरी है—ऐश्वर्य (धन, संपत्ति), उदारता और जानकारी (क्या देना चाहिये इसका ज्ञान)। ये तीनों बातें क्रमसे उनमें दिखाती हैं। गणनायकसे ऐश्वर्यवान्, वरदायकसे उदार और देवसे जानकार जनाया (क्योंकि देवता दिव्य होते हैं, वे हृदयकी जान लेते हैं)। जिसके पास माँगने जाय उसकी प्रथम कुछ स्तुति करके तब माँगना चाहिये, इसीसे इन तीन विशेषणोंद्वारा गणेशजीकी प्रशंसा करके तब माँगती हैं। जैसे शिव-पार्वतीजीसे प्रार्थना करनेमें उनको 'महेश' अर्थात् महान् ईश और 'भवानी' भवकी पत्नी कहकर उनकी बड़ाई की, वैसे ही गणनायक गणोंके स्वामी कहकर इनकी बड़ाई की कि आप समस्त गणोंके स्वामी हैं। [श्रीपंजाबीजीके मतानुसार 'गणनायकका भाव यह है कि रुद्रगण बड़े शक्तिमान् हैं, आप उनके स्वामी हैं, अतः परम शक्तिमान् होंगे। अपनी शक्तिसे इसका बोझ तिनकेके समान कर दीजिये। वा, सब गणोंको आज्ञा दे दीजिये कि अदृश्यरूपसे उठाते समय सहारा लगा दें।'] (ख)

'*आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा*', अर्थात् आपसे कभी कुछ सेवाका फल नहीं माँगा, सेवा करती गयी, आज फल माँगती हूँ। आप वरदायक हैं, मुझे वर दें। जैसे महेश भवानीसे कहा था कि '*करहु सफल आपन सेवकाई*' वैसे ही इनसे '*आजु लगे*.........' कहकर सेवा सुफल करनेकी प्रार्थना की। [इससे यह भी जनाया कि आज भी नित्यकी भाँति पूजा करके यहाँ आयी हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) '*बार बार बिनती सुनि मोरी*' इस कथनसे अपना अत्यन्त आर्त होना जनाया। मैं बड़ी आर्त हूँ, मेरी विनती सुनिये। (ख) '*करहु चाप गुरुता अति थोरी*' इति। '*अति थोरी*' का भाव कि श्रीरामजी अत्यन्त कोमल हैं, इसीसे गुरुताको '*अति*' थोड़ी करनेकी प्रार्थना है। पुनः, भाव कि हमने महेश-भवानीसे माँगा था कि चापकी गुरुता हर लें, सो उन्होंने उसकी गुरुता हर ली, शिव-पार्वतीजीके हरनेपर भी जो थोड़ी (कुछ) रह गयी हो, आप उसे '*अति थोरी*' कर दें, क्योंकि रामजी अति सुकुमार हैं। पुनः, भाव कि लक्ष्मणजीने जो दो बातें कही थीं; एक तो '*कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ।*' दूसरी, '*तोरौं छत्रक दंड जिमि*', उनमेंसे पहली बातके लिये तो पुरवासियोंने गणेशजीसे प्रार्थना की है, यथा—'*तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहुँ राम गनेस गोसाईं॥*' रही दूसरी बात, उसे जानकीजी गणेशजीसे माँगती हैं—'*करहु चाप गुरुता अति थोरी*', '*अति थोरी गुरुता*' छत्रकदण्डमें है। अर्थात् माँगती हैं कि धनुषको इतना हलका कर दीजिये जितना हलका छत्रकदण्ड होता है। (ग) ☞प्रथम लिखा कि '*सभय हृदय बिनवति जेहि तेही*' तत्पश्चात् विनय करना लिखा—'*मन ही मन मनाव*', '*बार बार बिनती सुनि मोरी*' और '*देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर*' इत्यादि। (घ) ☞बार-बार सभीसे धनुषकी कठोरता हरनेकी प्रार्थना करती हैं—'*करि हितु हरहु चाप गरुआई*', '*करहु चाप गुरुता अति थोरी*', '*होउ हरुअ रघुपतिहि निहारी*'। पर श्रीरामजीको बलवान् करनेको नहीं कहतीं। तात्पर्य कि धनुष बहुत कठोर है इसीसे उसको हलका करनेकी प्रार्थना करती हैं। यदि सब देवता रामजीको बलवान् कर दें और धनुष ऐसा ही कठोर बना रहे तो भी सन्देह बना रहता कि 'रामजी बली हैं पर न जाने धनुष टूटे या न टूटे, रावण, बाणासुर, आदि महाभटोंसे भी तो न उठा था, देखें क्या होता है?' और चापके अत्यन्त हलका होनेपर फिर संदेह न रहेगा। अतः हलका होनेकी प्रार्थना की।

दो०—देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर॥ २५७॥

अर्थ—श्रीरघुकुलवीर रामचन्द्रजीकी ओर एवं उनके तनको देख-देखकर श्रीसीताजी धीरज धरकर देवताओंको वा सूर्यको मना रही हैं। उनके दोनों नेत्र प्रेमजल (प्रेमाश्रु) से भरे हुए हैं और शरीरमें पुलकावली हो रही है॥ २५७॥

टिप्पणी—१ '*देखि देखि*.........' इति। भाव कि वह रूप ही ऐसा है कि एक-दो दफा देखनेसे तृप्ति नहीं होती, यथा—'*देखन मिस मृग बिहँग तरु पुनि पुनि फिरै बहोरि।*' (२३४), '*पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मन सकुचै न।*' (३२६) एकटक देखनेसे लज्जा लगती है, यथा—'*गुरजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि।*' (२४८) श्रीरघुवीर-तन अति कोमल और अति सुन्दर है इसीसे बार-बार देखती हैं। [पुनः, भाव कि एक बार देखतीं फिर कुछ सकुचाकर दृष्टि नीचे या इधर-उधर कर लेती हैं, फिर देखती हैं और संकोचके मारे दृष्टि हटा लेती हैं। और शरीरकी कोमलता और धनुषकी कठोरता याद आयी कि वीरता हृदयसे जाती रही तब देवताओंको मनाने लगती हैं। इस तरह बारंबार, वीरताको यादकर धीरज धरती हैं पर धनुष उसे स्थिर नहीं रहने देता। '*धीर*' के सम्बन्धसे '*रघुबीर*' नाम दिया। 'यहाँ वीरताका काम है, अतः '*रघुबीर*' कहा'—पाँड़ेजी)।]

टिप्पणी—२ '*सुर मनाव*' इति। पञ्चदेवताओंके साहचर्यसे यहाँ '*सुर*' से '*सूर्य*' का ग्रहण होगा। यथा—'**सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्**' इति। (परिभाषा न्याय)। शिवजी, पार्वतीजी, गणेशजी,

सूर्य और विष्णुभगवान् ये ही पञ्चदेव हैं। इनमेंसे तीन प्रथम कहे गये—*'होहु प्रसन्न महेस भवानी', 'गननायक बरदायक देवा'*। रहे सूर्य और भगवान् विष्णु सो भगवान्‌की प्रार्थना आगे करती हैं, यथा—*'तौ भगवान सकल उर बासी। करिहहिं मोहिं रघुपति कै दासी॥'* (यहाँ भगवान्‌से विष्णुभगवान् अभिप्रेत हैं, यथा—*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'*) अतएव चार देवताओंके साहचर्यसे यहाँ *'सुर मनाव'* में सूर्यकी प्रार्थना करनेका अर्थ है। [सुर=सूर्य, यथा—*'बिंधकी दवारि कै धौं कोटिसत सूर हैं'* (क० ५। ३), *'तुलसी सूधे सूर ससि समय बिडंबित राहु'* (दो० ३१७)। संस्कृतमें भी 'सुर' का एक अर्थ 'सूर्य' भी कोशमें मिलता है।] ☞पञ्चदेवोपासना सनातन रीति है, यथा—*'करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥'* (२। २७३) इत्यादि। उसी सनातन धर्मपरिपाटीके अनुसार श्रीजानकीजी पञ्चदेवताओंको मनाकर श्रीरघुनाथजीकी दासी बननेकी प्रार्थना करती हैं।

टिप्पणी—३ *'धरि धीर'* का भाव कि कोमलता देखकर धैर्य नहीं रह जाता, जैसा आगे स्पष्ट करती हैं—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥ बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥'* कोमलता देखकर बारंबार क्षोभ होता है, इसीसे ग्रन्थकार भी बारंबार मूर्तिका देखना लिखते हैं—*'तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥', 'देखि देखि रघुबीर तन·····', 'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥'* इत्यादि। अत: जब-जब क्षोभ होता है तब-तब धीरज धरती हैं। ☞यहाँतक श्रीजानकीजीके मनका हाल कहा; आगे उत्तरार्द्धमें तनका हाल कहते हैं। (इस समय देवता मनानेके लिये भी धैर्य धारण करना पड़ रहा है, विश्वास है कि बिना दैवबलके ऐसे कार्योंमें सिद्धि नहीं होती। लौकिक बलसे शिवचाप नहीं टूट सकता, अत: *'सुर मनाव·······'* वि० त्रि०)

टिप्पणी—४ *'भरे बिलोचन प्रेमजल········'*, यह प्रेमकी दशा है। प्रेमजलका भाव कि रोने (दु:ख) से भी नेत्रोंमें जल भर जाता है पर वह बात यहाँ नहीं है। श्रीरामजीमें अत्यन्त प्रेम हो गया है, इसीसे नेत्रोंमें जल आ गया। *'पुलकावली'* (=पुलककी पंक्ति) कहकर जनाया कि जितनी बार रामजीको देखती हैं उतनी बार पुलक होता है। अनेक बार देखना प्रथम ही कह दिया है—*'देखि देखि···········'*, इसीसे बारंबार पुलकित होना भी कहा। अथवा प्रेमसे बारंबार शरीर रोमाञ्चित हो रहा है इससे 'पुलकावली' का होना कहा।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा॥ १॥
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी॥ २॥

अर्थ—अच्छी तरह नेत्र भरकर श्रीरामजीकी शोभा देख पिताका प्रण स्मरणकर फिर मनमें क्षोभ हो गया॥ १॥ (वे सोचने लगीं कि) अहह! (बड़े खेदकी बात है) पिताजी! आपने बड़ी कठिन भयंकर हठ ठानी है, हानि-लाभ कुछ भी नहीं समझते (विचार करते)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'नीके निरखि नयन भरि सोभा'* इति। *'नीके निरखि'* अर्थात् नख-शिख-शोभा देखकर। यथा—*'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मनु अति छोभा॥'* (२३४। ४) पुन: भाव कि जबतक मन चञ्चल रहता है तबतक रूप अच्छी तरह नहीं देखते बनता, इसीसे वहाँ लिखा था कि *'तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥'* अर्थात् देखनाभर लिखा। अब धीरज धारण करनेसे मन स्थिर हो गया,—*'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।'* इसीसे अब *'नीके निरखि नयन भरि सोभा'* लिखते हैं। (ख) *'नयन भरि'* का भाव कि जब मन स्थिर न था तब नेत्रभर न देखा था, क्योंकि मनके चञ्चल होनेसे नेत्र भी चञ्चल रहे, मनके स्थिर हो जानेसे नेत्र भी स्थिर हो गये तब नेत्रभर शोभा देखी। [मंचपरसे चले। जैसे-जैसे सन्निकट चले आ रहे हैं, शोभा अधिक सुस्पष्ट होती जा रही है, अत: कहते हैं *'तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति*

जेहि तेही॥' और भी निकट आ गये, तब *'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर।'* अब बहुत निकट आ गये तब *'नीके निरखि नयन भरि सोभा।'* अबतक दूर-दूरसे ही साक्षात्कार हुआ, निकट आनेपर भलीभाँति शोभा देखनेका अवसर मिला। अतः *'नयन भरि'* देखना कहा। (वि० त्रि०)] (ग) *'पितु पनु सुमिरि'* से सूचित किया कि जब शोभा देखने लगी तब पिताके प्रणकी सुध भूल गयी थीं, पर जैसे ही नखशिख-शोभा भरपूर देख चुकीं तैसे ही पिताका प्रण याद आ गया, तब जो मन स्थिर हो गया था वह पुनः चञ्चल हो गया। शोभाके दर्शनसे निवृत्त हो गया। (घ) *'बहुरि'* का भाव कि श्रीसीताजीके मनमें पहले भी क्षोभ था, यथा—*'नखसिख निरखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मनु अति छोभा॥'*, पर धीरज धरनेपर वह स्थिर हो गया था, अब शोभा देख चुकनेपर फिर क्षुब्ध हो उठा।

टिप्पणी—२ (क) *'अहह'* खेद की बात है। खेदमें इस तरहका शब्द मुँहसे निकलता है। भाव कि यह प्रण श्रीरामजीकी प्राप्तिका बाधक है इससे बड़ा कष्ट है। पुनः भाव कि पिता होकर भी अपनी कन्याका विवाह हठ करके रोक रहे हैं, यह बड़े कष्टकी बात है। पुनः यह कि ऐसे बुद्धिमान् होकर भी हानि-लाभ कुछ नहीं समझते, यह कष्टकी बात है। पुनः *'बुधसमाज बड़ अनुचित होई', 'सचिव सभय सिख देइ न कोई'* यह कष्टकी बात है। पुनः *'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा'* इत्यादि—यह सारा प्रसङ्ग कष्टका है। इसीसे आदिहीमें *'अहह'* शब्द कथन किया गया । अहह=खेद। (ख) *'दारुनि हठ ठानी।'* यह हठ दारुण अर्थात् बड़ा भयंकर है। भाव कि देवताओंको मनानेसे, मनमें समझनेसे, किसी प्रकार भी भयकी निवृत्ति नहीं हो पाती। इसने मनमें भारी भय पैदा कर रखा है जो किसी तरह मिटता ही नहीं। [(ग) *'ठानी'* का भाव कि यह देखकर भी कि रावण, बाणासुर और दस हजार राजाओंसे भी न उठा तब भी *'बिधि बस हठि अबिबेकहिं भजई'* हठपर अड़े हैं] (घ) *'समुझत नहिं कछु लाभ न हानी'* इति। भाव कि संसारमें सभी लोग अपनी हानि-लाभ सोचकर कोई काम करते हैं, पर पिताजीने बिना समझे ही यह काम किया। इसीसे कहती हैं कि *'समुझत'*……।' धनुष टूटा भी तो क्या लाभ और न टूटनेसे कोई हानि भी नहीं, यथा—*'का छति लाभ जून धनु तोरे।'* [वा यह नहीं समझते कि हठ करनेसे लाभ न होगा; टूटे या न टूटे इसमें उनको लाभ ही क्या? और हठ करनेपर न टूटा तो हानि अवश्य है कि *'अंतहु उर दाहू'* होगा। और भी भाव पूर्ण आ चुके हैं।] यह हठ व्यर्थ ही है।

नोट—१ 'तात' श्लिष्टपदद्वारा यहाँ 'पिता' अर्थके अतिरिक्त 'संतापका देनेवाला' अर्थ भी सूचित किया। हठ संताप देनेवाला है। (पां०)

नोट—२ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'संसारमें सब लोग लाभहीके लिये उद्यम करते हैं, चाहे उसमें पीछे हानि हो हो जाय, पर जिस उद्यममें ऊपर ही प्रत्यक्ष हानि दिखती है उसे नहीं करते। धनुष टूटे तो हानि (क्योंकि न जाने किसी असुरसे टूटे तो मनुष्यका ब्याह दनुजादिके साथ अयोग्य ही है और मनुष्यसे टूटना असम्भव है) और न टूटे तो हानि (कन्या कुँवारी ही रहेगी, लोकमें अपयश होगा)।'

सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई॥ ३॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥ ४॥

अर्थ—मन्त्री (भी) भयभीत हैं, कोई सीख (सलाह, शिक्षा) नहीं देता। बुद्धिमानोंकी सभामें बड़ा अनुचित हो रहा है॥ ३॥ कहाँ तो वज्रसे भी बढ़कर कठोर धनुष और कहाँ ये साँवले, कोमल शरीर और किशोरावस्थावाले!॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) इस प्रणमें हानि-लाभ कुछ भी नहीं है, यह बात राजा नहीं समझते तो मन्त्रियोंको तो सुझाना चाहिये पर वे भी नहीं समझाते; क्योंकि वे डरते है कि राजा नाराज न हो जायँ। मन्त्री राजाके आश्रित होनेसे सभीत हैं, बुद्धिमान् तो आश्रित नहीं हैं, उनको तो कुछ भय नहीं है, किंतु वे भी नहीं कहते। (ख) *'बुधसमाज बड़ अनुचित होई'* इति। *'बड़ अनुचित'* कहनेका भाव कि मन्त्रियोंका

भयके कारण उचित सिखावन न देना भी अनुचित है और बुद्धिमानोंको तो कोई भय भी नहीं तब भी वे उचित बात नहीं सिखाते यह बड़ा ही अनुचित है। पुनः भाव कि बुधसमाज राजासे नहीं कहते तो मन्त्रियोंसे कह देते कि तुम निर्भय होकर यह बात राजासे कह दो, उन्हें समझा दो। बुधसमाजका यह न करना बड़ा अनुचित है। पुनः भाव कि जहाँ एक भी बुद्धिमान् होता है वहाँ अनुचित नहीं होने पाता और यहाँ तो समाज-का-समाज पण्डित है तब भी यहाँ बड़ी अनुचित बात हो रही है। (ग) *'सिख देइ न।'* क्या सीख दें? यह कि इस हठमें कोई लाभ या हानि नहीं है, यह हठ व्यर्थका है, *'कहँ धनु कुलिसहु………'* इत्यादि। [गीतावलीमें भी यही कहा है, यथा—*'कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े, भाग आए इत ए री। कुलिस कठोर कहाँ संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री॥'* (१। ७८। ३)] यहाँ एक अनौचित्य कहकर आगे दूसरा अनौचित्य कहते हैं—*'कहँ धनु……।'*

श्रीराजारामशरणजी—१ सच है, आत्मा ही सबसे अच्छा मित्र है। (गीता) श्रीसीताजीके विचार आत्मसंशोधनके बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। दोहा तो प्रगति-सहित भाव-चित्रणका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। २—तनिक धैर्य धारण किया और प्रेमकी पुलकावली प्रेमजलके साथ सुख देने लगी और नीके निरखनेका साहस हुआ, मगर हाय! पिताके प्रणने फिर क्षोभ उत्पन्न कर दिया। ३—'हठ' वाली आलोचना यहाँ भी है, मगर 'तात' शब्दने उसे कितना सकरुण बना दिया है! जहाँ-जहाँ जनकजीके प्रणको 'हठ' कहा गया है उन सब आलोचनाओंकी समानता और अन्तर दोनों विचारणीय हैं।

सलाहकारोंकी इस आलोचना और रानीद्वारा की गयी आलोचनाका अन्तर भी देखिये। विस्तारभयसे केवल याद दिलायी जाती है।

नोट—१ *'चाहि'* शब्दका अर्थ पं० महावीरप्रसाद आदि कई टीकाकारोंने 'चाहता है' ऐसा किया है। भाव उसका भी वही है। पर शब्दसागर आदि कोशोंसे पता चलता है कि *'चाहि'* का अर्थ 'बढ़कर' है। यथा—*'ससि चौदस जो दई सँवारा। तेहू चाहि रूप उजियारा॥'* *'खाँड़े चाहि पैनि पैनाई। बार चाहि पातरि पतराई॥'* *'जीव चाहि सो अधिक पियारी'* *'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि'* इत्यादि। प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि यह अवधी भाषा है, जायसीकी 'पद्मावत' में इसका प्रयोग बहुत आया है। यह शब्द संस्कृत *'चैव'* का अपभ्रंश है। **चैव**=च+एव=और भी=बढ़कर। उत्तरकाण्डमें जो *'कुलिसहु चाहि कठोर अति………'* आया है ठीक ऐसा ही भाव इस श्लोकका है—**'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हसि॥'** इससे भी *'चाहि'* का अर्थ बढ़कर ही सिद्ध होता है। 'वज्र भी जिसकी कठोरता चाहता है ऐसा कठोर इस प्रकार अर्थ करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। दूसरे इस अर्थमें कठोरता शब्द अपनी तरफसे बढ़ाना पड़ता है। पं० रामकुमारजी *'चाहि'* का अर्थ 'से' करते हैं, यह भी अर्थ ठीक बैठ जाता।—'कहाँ धनुष वज्रसे भी कठोर।' अयोध्याकाण्डमें भी कहा है *'अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही॥'* (२। २१)

टिप्पणी—२ (क) *'कहँ धनु……।' कहँ स्यामल…।'* इति। **'द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः'** अर्थात् जहाँ *'क्व'* शब्द दो बार आता है, वहाँ बड़ा भारी अन्तर दिखाया जाता है। 'कहँ' *'क्व'* का अपभ्रंश है। अतः भाव यह है कि धनुषकी कठोरतासे और रामजीकी कोमलतासे बड़ा भारी अन्तर है। (ख) धनुषको कठोर कहकर श्रीरामजीके शरीरको मृदु और किशोर कहा—इस तरह धनुषके योग्य नहीं है यह दिखाया। (ग) *'स्यामल'* शब्दका क्या प्रयोजन? इससे शरीरकी सुन्दरता कही है, यथा—*'स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥'* (घ) *'गात किसोरा।'* भाव कि अभी युवावस्था भी नहीं आयी। किशोर-अवस्थाके पश्चात् युवावस्था आती है। (ङ) धनुषको वज्रकी उपमा दी और इसकी जोड़में श्रीरामजीके अङ्गकी कोमलताकी उपमा *'सिरस सुमन'* की आगे देते हैं।

नोट—२ *'कहँ स्यामल मृदुगात'* इति। भाव यह कि धनुषकी कठोरताके लिये कुछ उपमा मिली। पर रामजीकी कोमलताकी कोई उपमा न मिली। इससे मृदुताके लिये मृदुता ही की उपमा दी। [वज्र

तो इन्द्रके हाथमें रहता है, वह उनका आयुध है, पर धनुष तो किसीसे हिला नहीं, इससे *'कुलिसहु चाहि कठोरा'* कहा। श्रीसुनयनाजीने धनुषका रामजीके हाथमें देना कहा—*'सो धनु राजकुँअर कर देहीं।.........।'* पर श्रीजनकनन्दिनीजीकी दृष्टिमें जो सुकुमारता बसी है वह हाथमें देना तो दूर रहा, धनुषके स्पर्शमात्रका विचार भी चित्तमें सहन नहीं कर सकती] कुलिश आकाशमें और रामजी यहाँ अर्थात् धनुष और रामजीमें आकाश और पृथ्वीका-सा बीच है। यहाँ 'प्रथम विषम अलङ्कार' है। (प्र० सं०)

बिधि केहि भाँति धरों उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥५॥

सकल सभा कै* मति भै भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी॥६॥

शब्दार्थ—*'सिरस'* (सं० शिरीष)—शीशमकी तरहका लम्बा एक प्रकारका ऊँचा किन्तु अचिरस्थायी पेड़ है। यह चैत्र-वैशाखमें फूलता-फलता है। फूल सफेद, सुगंधित, अत्यन्त कोमल तथा मनोहर होते हैं। कवियोंने इसके फूलकी कोमलताका वर्णन किया है।

अर्थ—हे विधाता! मैं किस तरह हृदयमें धीरज धरूँ? सिरसके फूलके कण (तंतु) से कहीं हीरा वेधा जा सकता वा विंधता है?॥ ५॥ सारी सभाकी बुद्धि बौरा गयी। हे शिवजीके धनुष! अब मुझे तेरी ही शरण है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) संयोग करानेवाले विधाता ही हैं इसीसे *'बिधि'* से कह रही हैं। (ख) *'केहि भाँति।'* प्रथम सब *'भाँति'* कह आयीं। राजा नहीं समझते, राजाको कोई समझाता भी नहीं, श्रीरामजी अत्यन्त कोमल हैं, धनुष अत्यन्त कठोर है—यही सब भाँति है। इसमेंसे किस भाँतिसे धीरज धरूँ? अर्थात् इनमेंसे कोई भी बात तो ऐसी नहीं कि जिससे धैर्य बँध सके। अविधिसे कार्य होते देखकर विधिका स्मरण करती हैं कि आप विधि बतलाइये कि मैं कैसे धैर्य धरूँ। (वि० त्रि०) (ग) *'सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा'* इति। ☞यहाँ ग्रन्थकारका सँभाल देखिये कि 'धनुष' उपमेयकी उपमा दोनों अर्धालियोंमें एक ही दी। प्रथम 'धनुष' को 'कुलिश' (वज्र) की उपमा दी—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।'* इसीसे यहाँ उपमामें *'हीरा'* कहा। क्योंकि हीरा भी वज्र कहलाता है, यथा—**माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमानि गारुत्मकं पुष्पक वज्रनील**' इत्यादि। धनुषको तो कुलिश कहा था पर श्रीरामजीके अङ्गोंकी कोमलताकी कोई उपमा वहाँ न दी थी। उनके तनको मृदु कहा था अब तनकी कोमलताकी उपमा *'सिरस सुमन कन'* की दी। (तात्पर्य कि 'यहाँ 'मृदुता' उपमेय है, *'सिरस सुमन कन'* उसका उपमान है। श्रीरामजीको अत्यन्त कोमल जान उनके योग्य उपमेयको न पाया। इससे उनकी उपमा भी न दी, केवल उपमानके साथ *'सिरस सुमन कन'* कहा। यहाँ ललित अलङ्कार है।)

नोट—१ ऐसा जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने यहाँ श्रीहनुमन्नाटकके '**कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥**' (अङ्क १ श्लो० ९) (प्र० सं०) इस श्लोकका ही विस्तारसे उल्लेख किया है। अर्थात् कहाँ तो कछुएकी पीठके समान कठोर यह धनुष और सुकुमार मूर्तिवाले ये रामचन्द्र! सो ये कैसे इस धनुषको चढ़ावेंगे? हा! हा! हे पिताजी! आपकी प्रतिज्ञा बड़ी दारुण है। मानसके *'अहह तात' 'दारुन हठ ठानी'* की जगह श्लोकमें क्रमशः '**अहह**' '**तात**' '**पणस्तव दारुणः**' हैं।

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि 'मृदुतामें केवल सिरसके सुमनकी उपमा गृहीत है; यथा—हनुमन्नाटके—'**सद्यः पुरीपरिसरेषु शिरीषमृद्वी गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता।**' इति (हनुमन्नाटक) तो उसके कणका क्या कहना? अथवा, '**दैवी विचित्रा गतिः**' इस भाँतिसे समाधान करें तो अब सिरिस सुमनके कणसे हीरा बेधना है इति अन्यथार्थक लोकोक्ति। भाव यह कि बात ऐसी है कि जैसी अनियम अनिश्चय बातका निश्चय कर लेना; किन्तु '**न भूतो न भविष्यति**' इसे अन्यथा ही मानना '**कुतः।**'

नोट ३ ☞(क) अति परितापके कारण धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी कोमलताका विरोध

* नोट—१६६१ में 'के' है।

कितना सकरुण बन जाता है। श्रीसीताजीके हृदयकी कोमलता उपमाओंसे प्रकट है। और उसे प्रेमने और भी उभार दिया है, इसीसे तो राजकुमार इतने सुकुमार दीखते हैं। (ख) भावके प्रभावको देखिये चेतनको जड़ बना दिया, क्या राजा, क्या मन्त्री, क्या जनता—सभीकी मति मारी गयी, सभी जड़वत् दिखते हैं। (ग) दूसरी ओर जड़ धनुषको चैतन्यकी भाँति ही अपील किया है कि तुम ही रघुपतिको 'निहार' कर कोमल हो जाओ! आह! इस समय कोमलताने 'रघुपति' शब्दकी महिमा भी भुला दी। यह है Personification का मजा। तुलसीदासके अलङ्कार कृत्रिम नहीं हैं। (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ (क) *'सकल सभा कै मति भै भोरी'* इति। तात्पर्य कि *'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥'* यह अयोग्य किसीको नहीं समझ पड़ता, इससे पाया गया कि सारी सभा-की-सभा बावली हो गयी, क्योंकि यदि सबकी बुद्धि भोरी न हो गयी होती तो इतने लोगोंमेंसे कोई भी तो पिताको अवश्य सिखावन देता। राजा नहीं समझते और मन्त्री इत्यादि कोई जो समझा नहीं रहे हैं, इसका कोई और कारण नहीं है। यह निश्चय करती हैं। (ख) राजाको समझाना चाहिये। समझानेका उचित क्रम क्या है, वह यहाँ दिखाती हैं। प्रथम मन्त्रियोंको उचित है कि राजाको समझावें। उनके पश्चात् बुद्धिमानोंको उचित है, वे भी न समझावें तब सभाके लोगोंको अधिकार है कि समझावें। उसी क्रमसे यहाँ एकके पीछे दूसरेको कहा—*'सचिव सभय सिख.......'*, *'बुधसमाज......'*, *'सकल सभा कै.......'*। (ग) *'अब मोहि संभुचाप गति तोरी'*, अब तुम्हारा ही आश्रय है, इस कथनसे पाया गया कि अभीतक और सबोंका आश्रय रहा। किस-किसकी शरण गयीं—देवताओंके (कि गुरुता दूर कर दें), पिताकी बुद्धिके (पिता बुद्धिमान् हैं समझ जायँगे), मन्त्रियोंके (राजा न समझेंगे तो ये समझा देंगे), बुध-समाजके (मन्त्री न समझायेंगे तो बुधसमाज समझा देगा)। न राजा समझे न किसीने समझाया; अतः ये जो चार आश्रय थे वे टूट गये। कहीं शरण न मिली तब हार मानकर धनुषकी शरण गयीं। (घ) *'गति तोरी'* अर्थात् दूसरी शरण नहीं है। देवता, पिता, मन्त्री इत्यादि सबका आश्रय छोड़कर धनुषका आश्रय लिया। इसीसे ग्रन्थकारने प्रारम्भमें लिखा कि *'सभय हृदय बिनवति जेहि तेही।'* *'जेहि तेही'* अर्थात् जो ही बुद्धिके सम्मुख आया, उसीसे विनय करने लगीं। देवताओंसे प्रार्थना करती रहीं, उनको छोड़कर धनुषसे विनती करने लगीं, क्योंकि बहुत व्याकुल हैं। आगे कवि लिखते भी हैं—*'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी।'*

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि* हरुअ रघुपतिहि निहारी॥ ७॥
अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**हरुअ**=हलका। **लव निमेष**—दोहा २२५ (४) में देखिये।

अर्थ—अपनी जड़ता (कठोरता) लोगोंपर डालकर† श्रीरघुनाथजीको देखकर हलके हो जाओ॥ ७॥ श्रीसीताजीके मनमें अत्यन्त संताप हो रहा है। निमेषका एक लव भी वा लव और निमेष सैकड़ों युगोंके समान बीत रहा है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीजानकीजी जनाती हैं कि 'हे धनुष! तुम जड़ हो, श्रीरामजीके योग्य नहीं हो, इसलिये अपनी जड़ता निकालकर हलके हो जाओ।' जड़ता निकालकर कहाँ रखी जाय? उसका ठिकाना बताती हैं कि *'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि.......'* कैसे डालें? चैतन्यपर जड़ता डालना दोष होगा? उसपर कहती हैं कि *'सकल सभा कै मति भै भोरी'* अर्थात् सारी सभाकी बुद्धि जड़ हो रही है, जबतक बुद्धि चैतन्य रहती है तबतक मनुष्यमें जड़ता नहीं आती, बुद्धि जड़ होनेसे मनुष्यमें जड़ता आ जाती है,

* होइहि—१६६१। †वि० त्रि० अर्थ करते हैं कि 'तुमने लोगोंपर अपनी जड़ता डाल दी।' और लिखते हैं—'सीताजी अब धनुषसे प्रार्थना करती हैं, जड़तामें ही गुरुता है, जड़ परमाणु जितने ही घनीभूत होते जाते हैं, उतनी ही जड़ताकी वृद्धि होती जाती है, सो तुमने अपनी जड़ता लोगोंपर डाल दी है तभी तुम्हारे विषयमें सबकी मति भोरी हो गयी है। अतः अब तुम हलके हो जाओ अथवा जड़ता लोगोंपर डाल दी है, अतः अब चेतन होकर रघुपतिको देखो और हलके हो जाओ.......।

इस तरह सारा समाज जड़वत् हो रहा है। जड़के ऊपर जड़ता छोड़ी जा सकती है, इसमें हर्ज नहीं। अतः विनय करती हैं कि अपनी भी जड़ता थोड़ी-थोड़ी करके सबपर छोड़ दो, वे और भी जड़ हो जायँगे और तुम हलके हो जाओगे। हलके हो जानेमें तुम्हारा गौरव जाता रहेगा, यह न समझो, क्योंकि उनकी बुद्धि अत्यन्त भोरी हो जानेसे वे यह समझ ही न पावेंगे कि धनुष हलका हो गया, सब यही जानेंगे कि रामजीने अत्यन्त कठोर धनुषको तोड़ डाला। उनके ऊपर जड़ता डाल देनेसे आपकी और श्रीरामजीकी दोनोंकी मर्यादा बनी रह जायेगी। क्योंकि यदि लोग जान गये कि रामजीके लिये तुम हलके हो गये तो फिर रामजीकी बड़ाईमें बट्टा लग जायगा, लोग कहेंगे कि अत्यन्त हलका होनेपर तोड़ा तो क्या बड़ाई है। अतः कहा कि अपनी जड़ता लोगोंपर डाल दो। इति भावः। [बैजनाथजीका मत है कि इसमें प्रेमकी यह दशा है।] (ख) *'होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी'* अर्थात् इनको देख लो, इनकी सुकुमारता कहती हैं—*'रघुपतिहि निहारी'*। अर्थात् इनको देख लो, इनकी सुकुमारताके अनुसार हलके हो जाओ। इतने हलके हो जाओ कि ये उठाकर तोड़ सकें। [अथवा, अपने स्वामीका श्रीरघुनाथजीसे सम्बन्ध जानकर हलके हो जाओ। (पं०)]

टिप्पणी २ (क) *'अति परिताप सीय मन माहीं'* इति। *'मनहीं मन मनाव अकुलानी।'* (२५७। ५) से यहाँतक श्रीसीताजीके मनका परिताप कहा। दूसरे चरणमें उनका *'अति परिताप'* दिखाते हैं कि *'लव निमेष''''।'* (ख) लव और निमेष दोनोंका उल्लेख साभिप्राय है। उनका संताप कभी किंचित् कम हो जाता है और कभी अधिक हो जाता है। जब धीरज धरती हैं, देवताओंको मनाती हैं, तब कम हो जाता है। एक निमिष शतयुगसमान जान पड़ता है। और जब श्रीरामजीकी कोमलता और धनुषकी कठोरता समझकर धीरज छूट जाता है तब संताप अधिक हो जाता है—एक लव सौ युगोंके समान बीतता है। इतना ही घटता-बढ़ता है, यही दिखानेके लिये लव और निमेष दोनोंको कहा। अथवा, (ग) श्रीरामजी अब धनुषके निकट पहुँचने ही चाहते हैं, कुछ भी विलम्ब नहीं है, इसीसे घड़ी, पहर, क्षणका बीतना न कहकर लव और निमेषका बीतना कहते हैं। लव-निमेषहीकी गुंजाइश है। (घ) लव और निमेष दो कहे। इसीके सम्बन्धसे यहाँ *'अति परिताप'* कहते हैं। परितापमें निमेष सौ युगोंके समान बीतता है और *'अति परिताप'* में एक लव सौ युगोंके समान बीतता है।

नोट—१ प्र० सं० में हमने इस प्रकार लिखा था कि ऊपर श्रीजानकीजीकी दो दशाएँ दिखा आये। एक *'सुर मनाव धरि धीर'* दूसरी *'पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा।'* अब यहाँ तीसरी दशा दिखाते हैं कि *'लव निमेष जुग सय सम जाहीं।'* निमेष तीन लवका होता है। *'लव निमेष'* का अर्थ 'निमेषका एक लव' लेनेसे भाव यह होता है कि इस समय एक लवमात्र सौ युगोंके समान बीत रहा है। इससे ध्वनितार्थ यह है कि पूर्वकी दो दशाएँ तीन लव (पूरे निमेष) और दो लवकी कही गयीं। अर्थात् जब *'सुर मनाव धरि धीर'* तब तीन लव सौ युगोंके समान बीतता था और जब पिताका प्रण स्मरण हो आता था तब दो लव सौ युगोंके समान हो जाता था। इस भावके अनुसार प्रथम दशामें *'ताप'*, दूसरीमें *'परिताप'* और तीसरीमें *'अति परिताप'* हुआ। नोट—२ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'अथवा बड़ा पश्चात्ताप है कि फुलवारीमें मैंने क्यों न जयमाल डाल दिया, अवसर चूक गया, अब न जाने क्या होगा। अतः *'अति परिताप'* है।

दो०—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल॥ २५८॥

अर्थ—प्रभुको देखकर फिर पृथ्वीको देखती हैं। (ऐसा करनेमें उनके) चञ्चल नेत्र ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो कामरूपी दो मछलियाँ चन्द्रमण्डलरूपी 'डोल' में खेल रही हैं॥ २५८॥ [वा, कामकी दो मछलियाँ चन्द्रमण्डलपर झूल रही हैं। (दीनजी)]

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि।'* भाव कि श्रीरामजीको देखकर सकुचा जाती हैं तब निगाह नीची करके पृथ्वीकी ओर देखने लगती हैं। यथा—*'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ*

सकोच सकुचति बर बरनी॥' (२। ११७। ३) '*गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥*' (२। ३१३) (ख) पूर्व लिखा था कि '*गुरुजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि। लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥*' (२४८) श्रीरामजीको देखकर बड़ोंकी लाज लगी तब सखियोंकी ओर देखने लगीं यह वहाँ कहा। पर जब रघुवीरको बार-बार देखती हैं, यथा—'*देखि देखि रघुबीरतन सुर मनाव धरि धीर।*' (२५७) तब लजानेपर कहाँ देखती हैं, यह अबतक न खुला था, उसीको यहाँ खोलते हैं कि '*पुनि चितव महि।*' (ग) [प्रभु पद सामर्थ्य जनानेके विचारसे प्रयुक्त हुआ है। भाव यह कि मैंने आपको स्वामी मान लिया सो आप समर्थ हैं, फिर भी मुझे कष्ट हो!—(पंजाबीजी)]

नोट—१ पृथ्वीकी ओर देखनेके अनेक भाव महानुभावोंने कहे हैं। जैसे कि (१) पृथ्वीमें गच है, उसमें श्रीरामजीका प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। वा (२)—आप अयोनिजा हैं, पृथ्वी आपकी माता हैं। मातासे प्रार्थना करती हैं कि श्रीरामजी कोमल हैं, अभीतक आप धनुषको थामें रहीं इसीसे तो कोई राजा '*तिलु भरि भूमि न सके छुड़ाई*' पर अब उसे छोड़ दीजिये। वा (३) मातासे कन्या वरकी बात कैसे कहे? इसीसे प्रभुकी ओर देखकर फिर पृथ्वीकी ओर निगाह डालकर इशारेसे जनाती हैं कि अब मैं दूसरेको नहीं ग्रहण कर सकती और उधर श्रीरामजीसे भी यही इशारा है कि यदि मुझे इन चरणोंकी प्राप्ति न हुई तो मैं पुनः पृथ्वीमें समा जाऊँगी। वा (४) पृथ्वीसे कहती हैं कि ब्रह्माको साथ लेकर जिनसे भूभारहरणकी प्रार्थना की थी, वे ही तेरे सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं और तेरा भार बिना मेरे पाणिग्रहणके नहीं हरण हो सकता, इससे अब क्यों मूक दशामें प्राप्त है। और प्रभुसे जनाती हैं कि पृथ्वीके लिये आपने वराहरूप धारण किया था, मैं उसकी पुत्री हूँ, तो मेरे लिये धनुष क्यों नहीं तोड़ते? वा (५) गिरिजाजीने कहा था कि आप हमारे शीलस्नेहको जानते हैं, तब आप मेरे खिन्न चित्तपर कृपा, करुणा क्यों नहीं करते? मैं पृथ्वीकी गोदमें समा जाऊँगी। वा (६) भूमिभार उतारना है तो शीघ्र मुझे अङ्गीकार कीजिये। (मा० ता० वि० में इसी तरह और भी प्रायः अस्सी भाव लिखे हुए हैं।) [संकोचमें स्वाभाविक ही दृष्टि नीचेकी ओर चली जाती है।]

* बिधुमण्डल डोल *

पं० रामकुमारजी—'*राजत लोचन लोल*' कहकर नेत्रोंके चलने (चाल) की शोभा और '*मनसिज मीन*' की उपमा देकर नेत्रोंकी शोभा कही। तात्पर्य कि नेत्र और नेत्रोंका व्यापार दोनों ही शोभित हैं। जलके छोटे ह्रद (तालाब या कुण्ड) को डोल कहते हैं। बिधुमण्डलको डोल कहा; क्योंकि बिधुमण्डल जलमय है। दो मछलियाँ खेलती हैं अर्थात् क्रीडा करती हैं। श्रीजानकीजीका मुखमण्डल चन्द्रमण्डल है, दोनों नेत्र दो मछलियाँ हैं। खेलती हैं अर्थात् आती-जाती हैं। प्रभुको देखती हैं फिर पृथ्वीकी ओर देखती हैं, यही खेलना है, जैसे मछली '*डोल*' में आती-जाती है। मछलीको जल चाहिये सो आगे लिखते ही हैं, '*लोचन जल रह लोचन कोना।*' पहले भी लिख आये हैं कि '*भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर।*' विधुमण्डलरूपी डोल अचल है, वैसे ही मुखमण्डल भी अचल है, (सिर हिलाती नहीं हैं क्योंकि) लजा रही हैं कि सिर बार-बार ऊपर-नीचे होनेसे लोग जान जायेंगे कि ये श्रीरामजीको देख रही हैं; अतएव नेत्रभर चलते हैं, ग्रीवा हिलने नहीं पाती। अथवा, जैसे विधुमण्डल चलता है वैसे ही किंचित्-किंचित् मुखमण्डल भी डोलता है; जैसे मछली खड़ी हो जाती है और चलने लगती है वैसे ही रामजीको देखकर नेत्र किंचित् थम जाते हैं।

करुणासिन्धुजीने भी '*डोल*' का अर्थ 'कुण्ड' लिखा है। उनका कथन है कि 'मछलीको पूर्णसुख जलके कुण्डमें ही होगा, अतः हिडोला अर्थ संगत नहीं। मुखमण्डल चन्द्रमण्डल है, नेत्रके गोलक इसके कुण्ड हैं, दोनों पुतलियाँ कामकी दो मछलियाँ हैं। ऊपर देखना फिर नीचे देखना पुतलीका ऊपर-नीचे आना (जाना) मछलियोंका कुण्डमें खेलना है।' यहाँ प्रेमजल परिपूर्ण है, इसलिये खेलना कुलेल करना कहा गया।

पाँड़ेजी, बाबा हरिहरप्रसादजी और बैजनाथजीने '*डोल*' का अर्थ 'हिंडोल' किया है। उत्तरार्धका अर्थ यह किया है कि 'मानो कामदेव (की वा रूपी) दो मछलियाँ चन्द्रमण्डलमें (बैठकर) हिंडोल खेल रही

हैं।' किसीने 'चन्द्रमण्डलमें डोल' खेलना और किसीने चन्द्रमण्डलरूपी डोलमें खेलना लिखा है। वीरकविजीने '*डोल*' का अर्थ 'हिलना' लिखा है, वे अर्थ करते हैं—'मानो चन्द्रमण्डल हिल रहा है, उसमें दो कामदेव मछलीरूपधारी खेल रहे हों।' यह अर्थ भी बाबा हरिहरप्रसादजीकी टीकामें है। प्रधान अर्थ पहले दिया है फिर यह दूसरा अर्थ लिखा है।

हिन्दी शब्दसागरमें '***डोल***' शब्द, (पुल्लिङ्ग, संस्कृत दोल) के चार अर्थ लिखे हैं— डोल पानी भरनेका, डोली, हिंडोला और जहाजका मस्तूल। 'हिंडोलना' अर्थके दो प्रमाण भी उसमें दिये हैं—एक तो सूरदासजीके '***सघन कुञ्जमें डोल बनायो, झूलत हैं पिय प्यारी***' इस पदका, और दूसरे तुलसीदासजीके इसी दोहेको उद्धृत किया गया है।।

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'हिंडोला' अर्थ ठीक है क्योंकि श्रीरामजी ऊँचे मंचपर हैं। (मंचपरसे चल चुके हैं उस समयकी यह बात है)। ☞सीताजी एक बार उनकी ओर देखती हैं, फिर पृथ्वीकी ओर, इस प्रकार बारम्बार देखती हैं। ऊपरसे नीचे दृष्टिका आना और फिर ऊपरको जाना झूलाका-सा ऊपर नीचे जाना-आना है। इसीकी उत्प्रेक्षा इस दोहेके उत्तरार्धमें है। यदि ऐसा अर्थ न किया जायगा तो उत्प्रेक्षा बिगड़ जायगी जो एक प्रकारसे बड़ा भारी साहित्यिक दोष होगा। '***डोल***' का अर्थ एक तो किसी कोशमें 'कुण्ड' नहीं मिलता, दूसरे इस अर्थमें यह शब्द यहाँ व्यर्थही-सा होगा, क्योंकि '***खेलत***' हीसे वह शब्द सूचित हो जाता है, मछलियाँ जलहीमें खेलेंगी। उत्तरार्धका अन्वय यों होगा '***जनु मनसिजकी जुग मीन बिधुमंडलमें***' '***डोल खेलत***' अर्थात् हिंडोला झूलती हैं।

गौड़जी कहते हैं कि (१) 'संस्कृतमें '**खेलनम्**' का वाच्यार्थ '**हिलना, डोलना**' है, '**कल्लोल**' लक्ष्यार्थ है। यहाँ किशोरीजी चिन्तित हैं। लक्ष्यार्थ असङ्गत है। यहाँ '***खेलत***' का अर्थ 'झूलती हैं' करना चाहिये।'

(२) '***सहजहि चले सकल जग स्वामी।***' मंचसे शिवचाप कुछ दूरीपर है। भगवान्के चाप-समीप जाते-जाते-भरमें पुरवासी, सीताजीकी माता और सीताजीकी विकलता और लक्ष्मणजीका सबको सजग करना ये सारी घटनाएँ हुई हैं। रघुनाथजी इस समय ऊँचे मंचपर नहीं हैं। उतरकर नीचे जा रहे हैं। इसी समय सीताजीकी दशाका वर्णन '***प्रभुहि चितइ···डोल***' इस दोहेसे किया गया है। निगाह एक बार श्रीरघुनाथजीकी ओर जाती है, दूसरी बार पृथ्वीपर। सिरके बिना हिले दृष्टिकी यह एक क्रिया हिंडोलेपर झूलनेके समान है। इस अनुपम उत्प्रेक्षामें यह व्यंग भी है कि किशोरीजी बड़ी दुविधामें हैं। एक ओर '**प्रीति पुरातन**', '**नारद वचन**', '**पार्वतीका वरदान**' आश्वासन देता है। दूसरी ओर पनकी कठिनाई घबड़ाहट पैदा करती है। '**दोल**' का अर्थ '**घोर चिन्ता और सन्देह**' भी है। सन्देह और चित्तकी चंचलताके लिये अन्यत्र भी '**दोला**' का काव्योंमें प्रयोग हुआ है। '**आसीत्सदोलावलचित्तवृत्तिः**' (रघुवंश), '**संदेहो दोलामारोप्यते**' (कादम्बरी)। यहाँ व्यंग्यसे उत्प्रेक्षाद्वारा संदेह और चिन्ताको चित्रित किया है। यहाँ अनुक्त विषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

☞चन्द्रमण्डल '***डोल***' है, तो प्रेम और लज्जा हिंडोला झुलानेवाले हैं।

प० प० प्र०—लिखते हैं कि 'हिंडोलना अर्थ ही समयोचित है। मुखमण्डल डोल है, क्योंकि वह ऊपर उठता है और नीचे झुकता है। नेत्रकी पुतलियाँ रामजीका अनुगमन करती हैं, अतः दाहिने-बाएँ तरफ चलायमान हो रही हैं, यही युग मीनोंका खेलना और हिंडोलाका झूलना है।'

श्रीत्रिपाठीजी '***डोल***' का अर्थ पानी भरनेवाला डोल लेते हैं। शेष भाव प्रायः वही हैं जो पं० रामकुमारजीने लिखे हैं। 'कामदेव मीनके तन हैं, आँखोंकी उपमा मीनसे दी जाती है, सुन्दरताके उत्कर्षके लिये जनकनन्दिनीकी आँखोंकी उपमा मीनके तनके मीनसे दी गयी और मुखकी उपमा चन्द्ररूपी डोलसे दी गयी। डोल स्थिर रहता है, मछलियाँ ही चलती हैं, इसी भाँति मुख स्थिर है केवल नेत्र चंचल हैं।' 'हमलोगोंका भाषाज्ञान बहुत संकुचित है, अतः अर्थ करनेमें चूक हो जाती है। जहाँके लोग डोलसे अपरिचित हैं, डोलका अर्थ 'हिंडोला' करते हैं। पर पानीके डोलमें ही मछलीका खेल बन सकता है, हिंडोलेपर तो उनका छटपटाना ही सम्भव है।' बहुत हालतक डोलसे पानी कुएँसे खींचा जाता

था, 'पर अब डोल दिखायी नहीं पड़ता। धनी लोगोंके यहाँ शीशेके डोल अब भी देखे जाते हैं, जिनमें सुनहली छोटी-छोटी मछलियाँ छोड़ दी जाती हैं, वे नीचे-ऊपर तैरा करती हैं और उनकी बड़ी शोभा होती है। (वि० त्रि०)

श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—१ इस चित्रणपर 'चित्रणकला' निछावर है। काव्यकला इसीसे 'चित्रणकला' से श्रेष्ठ गिनी जाती है कि उसमें वह सम्भव है जो चित्रकार भी नहीं कर सकता। २—दोहेमें करुण-रसके अंदर शृङ्गारके माधुर्यका निर्वाह कलाका चमत्कार है। *'राजत'* और *'खेलत'* शब्द इसकी गवाही दे रहे हैं। लेकिन याद रहे कि शृङ्गारका माधुर्य 'प्रभावरूप' है। सीताजी तो 'करुण कोमलता लज्जा' में ही हैं। और 'प्रभाव' कैसा ठीक निशानेपर पड़ा, यह आगे देखियेगा। *'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥'* चौपाइयौंमें करुणा और लज्जाका संघर्ष तो है ही, शृङ्गारका माधुर्य मिसालों (उदाहरणों) में कूट-कूट भरा है।

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥ १॥
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥ २॥

शब्दार्थ—अलि=भ्रमर। अलिनि=भ्रमरी।

अर्थ—वाणीरूपी भौंरीको मुखकमलमें रोक रखा। लज्जारूपी रात्रिको देखकर वह प्रकट नहीं होती। अर्थात् लाजके मारे वे मुँहसे कुछ कहती नहीं॥ १॥ नेत्रोंका जल नेत्रोंके ही कोने (कोए) में रह गया, जैसा परम कंजूस (सूम) का सोना (कोनेहीमें गड़ा रहता है)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'रोकी'* से जनाया कि श्रीजानकीजी मुखसे कुछ कहना चाहती हैं, इच्छा होती है कि सखियोंसे कहें जिसमें वे हमको समझा दें, हमारा संदेह दूर कर दें। जैसे श्रीसुनयनाजीने सखीसे कहा तो उसके समझानेसे दुःख दूर हो गया।

श्रीसीताजीके मनमें *'अति परिताप'* है, यह ऊपर कह चुके हैं। उस *'अति परिताप'* को वे वचनसे कहना चाहती हैं, क्योंकि कहनेसे दुःख कुछ घट जाता है, यथा—*'कहेहू ते कछु दुख घटि होई।'* (५। १५) पर लज्जाके कारण कहती नहीं। (ख) *'मुखपंकज रोकी'* कहनेसे सूचित होता है कि लज्जाके कारण मुख विकसित नहीं है, बंद है, जैसे रात्रिमें कमल सम्पुटित हो जाता है वैसे ही इनका मुख सम्पुटित है। (ग) *'प्रगट न लाज निसा अवलोकी'* का भाव कि भ्रमरी चाहे तो (उसकी पाँखुरी काटकर) कमलसे बाहर निकल जाय, पर वह रात्रिको देखकर नहीं निकलती, रात्रिकी मर्यादाकी रक्षा करती है। वैसे ही श्रीजानकीजी चाहें तो सखियोंसे अपना दुःख कह दें पर लज्जाकी मर्यादाकी रक्षाके निमित्त वे नहीं कहतीं। (घ) यहाँतक सीताजीके मन, वचन और कर्म तीनोंका हाल कहा। यथा—*'अति परिताप सीय मन माहीं'* से मन, *'गिरा अलिनि···'* से वचन और *'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि···'* से कर्मकी दशा कही। (ङ) यहाँ 'परम्परित' रूपक है।

टिप्पणी २ (क) *'लोचन जलु···'* इति। प्रथम लोचनमें जलका भरना कह आये, यथा—*'भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर।'* (२५७) वह *'लोचन जल'* वही पूर्व-कथित जल है। पूर्व जल कहा; अब यहाँ उस जलकी दशा कहते हैं कि वह जल जो प्रेमके कारण नेत्रोंमें भरा हुआ है ज्यों-का-त्यों नेत्रोंके कोयेमें स्थित है। वे न तो उसे गिरने ही देती हैं और न पोंछती ही हैं, क्योंकि यदि वह गिर जाय तो लोग जान लेंगे कि जानकीजी रो रही हैं और यदि पोंछती हैं तो भी वही बात होगी। लाजके मारे प्रेमाश्रुको जहाँ-की-तहाँ प्रबल प्रयत्नसे रोके हुए हैं। (ख)—*'जैसे परम कृपन कर सोना'* इति। *'परम कृपन'* कहकर कृपण दो प्रकारके जनाये। एक कृपण (साधारण) दूसरा 'परम कृपण।' जो दूसरोंको न दे पर स्वयं खा ले वह कृपण है, और जो न दूसरेको दे और न स्वयं ही उसे भोग करे वह *'परम कृपन'* है। इसका सोना पृथ्वीमें घरके एक कोनेमें गड़ा ही रहता है। (ग) 'परम कृपण' के सोनेका दृष्टान्त देकर जनाते हैं कि जैसे वह अपने सोनेको कोनेमें गाड़ रखता है वैसे

ही ये प्रेमजलको नेत्रोंमें गाड़े हुए हैं। जल वहीं इस तरह गड़ा हुआ है कि किसीको प्रकट नहीं हो पाता। (घ) कृपण तो प्रयोजन पड़ जानेपर सोनेको निकालता भी है पर जानकीजीने उस जलको नहीं निकाला, इसीसे कृपणकी उपमा न देकर 'परम कृपण' की उपमा दी। [पुनः, भाव यह कि परम कृपणको भी देनेकी इच्छा हो जाती है, वह सोना हाथमें ले भी लेता है, पर परम कृपणता उसकी यही है कि दे नहीं सकता, बड़े यत्नसे मनको रोक लेता है। वैसे ही प्रेमाश्रु डबडबाकर आँखोंके कोनेतक आ गये पर इन्होंने बड़े यत्नसे उन्हें जहाँ-का-तहाँ रोक रखा। (वि० त्रि०)] (ङ) यह जल श्रीरामजीके प्रेमका जल है, इसीसे इसको 'सोना' कहा। सोना सबके पास नहीं होता, बड़े भाग्यवान्‌के ही घर होता है, वैसे ही प्रेमजल सबके नहीं होता बड़े भाग्यवान्‌के ही होता है। और ऐसा प्रेमजल तो जानकीजीके ही पास है। *'भरे बिलोचन प्रेमजल'''।'* उदाहरण अलङ्कार है।

श्रीराजारामशरणजी—*'लोचन सोना'।* यह अर्धाली तो ऐसी है कि मेरी आलोचना-शक्ति सदा व्याख्या करनेमें जवाब दे देती है। यहाँ माधुर्य दोरुखा है। *'लोचन'* सीताजीके और जल वही है जो रामजीकी श्यामल मूर्तिको देखकर प्रेमके कारण पहले ही वर्णित हो चुका है। *'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर।'* हाँ, आगे परितापने इसमें कितना हर्षकी मात्रा रहने दी और कितनी करुणा बढ़ा दी कहते नहीं बनता, मगर 'सोने' की मिसाल (दृष्टान्त) बता रही है कि माधुर्य बिलकुल गया नहीं। लज्जाका बुरा हो कि उसने 'कृपणता ला दी और आँसूको गिरने न दिया, मगर भाई! बुरा भी क्यों हो? लोचनके कोनेकी शोभा कहाँ रहती।

यह पद इसीसे 'जेबुन्निसां' के पदसे बढ़ गया है। कुछ शब्द भूलते हैं मगर उसके पदका मजमून यह है—*'दुनियाँ में दुरे यकता'* (एकलौता मोती) 'मौजूद' कम पाया जाता है, *'बजुल अश्के बुताने सुर्मा आलूदा'* (सिवाय प्रेमिकाओंके सुर्मासे मिश्रित आँसुओंके)। इस पदमें केवल कृत्रिम शृङ्गारका मजा है, मगर तुलसीके पदमें कितने भाव हैं कौन जाने? कुछ भाव ऊपर लिखा है।

सत्य है, आपत्ति भी मजेकी चीज है—

भाव-संघर्षकी गोतोंमें सीताजीको 'प्रतीति' का अनमोल मोती मिल ही गया। कारण कि संकोचने धैर्य ला दिया और भाव-निरीक्षणमें वह मोती मिला जिसकी व्याख्या आगेके पदोंमें है।

सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी॥ ३॥
तन मन बचन मोर पनु* साचा। रघुपति-पद-सरोज चितु† राचा॥ ४॥

अर्थ—अपनी व्याकुलताको बहुत बढ़ी जानकर सकुचा गयीं। धीरज धरकर हृदयमें विश्वास लायीं॥ ३॥ तन, मन और वचनसे मेरा प्रण सच्चा है, श्रीरघुनाथजीके चरण-कमलोंमें मेरा चित्त अनुरक्त है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी'* इति। व्याकुलता प्रकट हो जानेसे भी लाज लगेगी। लोग क्या कहेंगे? सकुचीं कि मैं इतनी व्याकुल हो गयी हूँ, कोई जान न गया हो। (ख) गोस्वामीजीने श्रीसीताजीकी 'लाज' वा संकोच बहुत स्थानोंमें वर्णन किया है। प्रभुको देखनेमें लाज, यथा—*'प्रभुहि चितै पुनि चितव महि'* बोलनेमें लाज, यथा—*'गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज''' ॥'* सिरके हिलनेमें लाज, यथा—*'खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोले'* आँखोंसे जलके गिरनेमें एवं आँसू पोंछनेमें लाज, यथा—*'लोचन जल रह लोचन कोना'* दूसरेसे कहनेमें संकोच, यथा—*'बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा'* और व्याकुलताके प्रकट होनेमें लाज, यथा—*'सकुची ब्याकुलता''' '* इत्यादि। इस तरह आदिसे अन्ततक संकोच दिखाया। (ग) *'धरि धीरज प्रतीति उर आनी'* इति। पूर्व धीरज धरना चाहती थीं पर धैर्य न आता था, यथा—*'बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा।'* (पूर्व भी धीरज धरना कहा था, यथा—*'सुर मनाव धरि धीर।'* पर उस धीरजमें और यहाँके धीरजमें भेद है। पूर्वका *'धीर'*

* मन —१७०४। † मन—१७०४, को० रा०।

सुकृत और देवताओंका दिया हुआ था पर उसमें भी संदेह बना ही रहा। *'धीरज'* शब्द *'धीर'* से बड़ा है। शब्द गुण भी विचारिये।) अब धीरज धारण किया। पूर्व प्रतीति न होने पाती थी, यथा—*'सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा'* अब हृदयमें प्रतीति ले आयीं। कैसे प्रतीति लायीं यह आगे कहते हैं।

वि० त्रि०—क्षोभ व्याकुलतामें परिणत हुआ और व्याकुलता भी खूब बढ़ी, परंतु जनकनन्दिनीने अपनेको उस व्याकुलताका द्रष्टा माना, इससे व्याकुलता रुकी, संकोचका उदय हुआ, धैर्यधारणकी ओर चित्तकी वृत्ति गयी, परंतु किस विश्वासपर धैर्य धारण किया जाय? विश्वासके लिये मूलभित्ति चाहिये। सो श्रुति ही मूलभित्ति हुई—**'यद्यत्कामयते तत्तल्लभते'** जिसकी कामना करे उसकी प्राप्ति होती है, पर कामना सच्ची होनी चाहिये। सो यह विश्वास हुआ कि मनसा, वाचा, कर्मणा मेरा प्रण सच्चा है।

टिप्पणी—२ *'तन मन बचन मोर पनु साचा।'''* इति। (क) मेरा प्रण सच्चा है, यह कहकर दूसरे चरणमें अपना *'पन'* बताती हैं कि *'रघुपति पद सरोजु चितु राचा।'* यह मेरा चित्त दूसरेका नहीं हो सकता। यह ही प्रेमप्रण है। आगे यह कहनेको है कि ***'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥'*** इसीसे प्रथम अपने स्नेहको सत्य कहती हैं। (ख) पुरवासियोंने श्रीरामके हाथसे धनुष टूटनेके लिये अपने सारे सुकृत लगा दिये और श्रीजानकीजी अपना स्नेह लगा रही हैं क्योंकि इनकी भावना स्नेहकी है, यथा—*'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥'* स्नेह सब सुकृतोंसे अधिक है, यथा—*'सकल सुकृत फल राम सनेहू।'* (ग) *'रघुपति पद सरोज चितु राचा'* यह दास्यभाव है, इसीसे आगे कहती हैं कि *'तौ भगवान सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी॥'* अतएव *'मोर पनु साचा'* इत्यादिका भाव यह हुआ कि यदि श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें सत्य ही मेरा दास्यभाव है तो भगवान् मुझको उनकी दासी करेंगे। पादसेवनभक्ति लक्ष्मीजीकी भी है और श्रीजानकीजीकी भी, यथा—*'कमला चरनन्हि मन'* और **'कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृंगसंगिनौ॥'**(७ मं० २) (घ) तन, मन, वचनका प्रेम, यथा—*'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि'* (यह तनका प्रेम है) *'रघुपति पद सरोज चितु राचा'* (यह मनका है) और *'सुर मनाव धरि धीर'* (यह वचनका है)। (ङ) *'पद सरोज'* कहकर चरणोंका आदर जनाया कि उनके चरणोंमें मेरा मन भ्रमरकी तरह प्रेम किये हुए है, यथा—*'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू॥'* (१७। ४) एवं *'मन मधुपहि पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं'* इत्यादि। कमल और मधुकरका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि* मोहि रघुबर कै दासी॥ ५॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥ ६॥

अर्थ—तो सबके हृदयमें निवास करनेवाले भगवान् मुझे रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी दासी (अवश्य) बनायेंगे॥ ५॥ जिसका जिसपर सत्य स्नेह होता है वह उसको (अवश्य मिलता) है इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'तौ'* के सम्बन्धसे पूर्वकी अर्धालीमें *'जौं'* अर्थ करनेमें कह लेना चाहिये। (ख) *'भगवानु'* इति। जीवकी गति और अगति दोनों भगवान्‌के हाथ है। यथा—**'वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥'** *'गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे।'* इसीसे रघुपतिकी दासी बना देना भगवान्‌के हाथकी बात है। अभिप्रायसे पाया गया कि सत्य स्नेहके फलदाता भगवान् हैं। श्रीरामजी माधुर्यको ग्रहण किये हुए हैं इसीसे रघुपतिसे भगवान्‌को पृथक् कहती हैं। *'सकल उर बासी'* इति। भगवान् सबके हृदयमें बसते हैं, यथा—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** (गीता) हृदयका भाव जानते हैं, यथा—*'सबके मन मंदिर बसहु जानहु भाव कुभाव।'* भाव कि सबके हृदयकी जानते हैं,

* करिहहि—पाठान्तर।

मेरे हृदयमें भी जो सत्य स्नेह है उसे जानकर मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे। (ख) *'भगवानु'* से ऐश्वर्य, *'सकल उरबासी'* से जानकारी और *'करिहि मोहि रघुबर कै दासी'* से उदारता गुण कहा। तीनों गुणोंसे भगवान्‌की पूर्ण शोभा है। (ग) पुनः 'भगवान् शब्द देकर पञ्चदेवाराधनकी पूर्ति की। पञ्चदेवका स्मरण करके पीछे रघुवरकी दासी करनेको कहती हैं। इससे पाया गया कि पञ्चदेवोपासनासे रघुपति-भक्ति मिलती है। दासी होना रघुपति-भक्ति है। (घ) विधि, हरि, हर तीनों देवोंका स्मरण किया, यथा—*'होउ प्रसन्न महेस भवानी,' 'तौ भगवानु'', 'बिधि केहि भाँति''।'*

नोट—१ *'भगवानु'* का भाव यह है कि और देवता और सुकृतोंका फल देते हैं पर स्नेह देना, यह सामर्थ्य भगवान्‌को ही है, अन्यको नहीं। इससे यह पाया जाता है कि भगवान् और हैं और रघुवर और हैं, ऐसा है नहीं, वही रघुवर भगवान् ऐश्वर्यमें, रघुवर माधुर्यमें।

टिप्पणी—२ (क) *'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू'* इति। तात्पर्य कि जिसका भी जिसपर सच्चा स्नेह हो उसको वह अवश्य मिलता है यह प्रामाणिक बात है, सिद्धान्त है, कुछ हमारे ही लिये ऐसा हो यह बात नहीं। अपना सत्य सनेह पहले ही कह चुकी हैं—*'तन मन बचन''।'* तन-मन-वचन तीनोंसे स्नेह होना 'सच्चा स्नेह' कहलाता है। (ख) *'तेहि मिलै'* अर्थात् बहुत शीघ्र मिलता है। यह भाव दिखानेके लिये ही वर्तमानकालिक क्रिया *'मिलै'* (मिलता है) दी। यदि विलम्बसे मिलना होता तो *'मिली' 'मिलिहि'* ऐसा कहतीं। (ग) *'न कछु संदेहू।'* भाव कि सत्य स्नेहके फलदाता भगवान् हैं, इसीसे मिलनेमें सन्देह नहीं है। अथवा भाव कि अन्य सुकृतोंसे चाहे मिलनेमें कुछ सन्देह भी हो पर सत्य स्नेहसे मिलनेमें किंचित् सन्देह नहीं। अथवा इस बातका कहीं पुष्ट प्रमाण होगा इसीसे कहती हैं कि *'न कछु संदेहू।'* (श्रुति कहती है—**'यद्यत्कामयते तत्तल्लभते।'** वि० त्रि०) पुनः भाव कि (घ) प्रथम श्रीरामजीके मिलनेमें सन्देह बना रहा, अब इस बातको समझनेसे इस बातके स्मरण आ जानेसे कि *'जेहि कर''* कहती हैं *'न कछु संदेहू।'* [*'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो'* यह विनयमें कहा है। यहाँ *'रघुपतिपद सरोज मनु राचा'* में प्रेमकी दृढ़ता दिखायी और *'तौ भगवानु सकल उरबासी। करिहि मोहिं रघुबर कै दासी॥'* में प्रीतिकी दृढ़ता कही, इसीसे धैर्य आ गया, यह *'सो तेहि मिलै न कछु संदेहू'* से स्पष्ट है। उधर श्रीरामजीने धनुषको ताका। (वै०)]

वि० त्रि०—भाव यह कि अपनी पुत्रीके देनेका मुख्य अधिकार पिताको है। पर वे तो अपनी प्रतिज्ञासे बद्ध हो रहे हैं कहते हैं *'कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ'* अतः जगत्पिताका भरोसा है कि वे मेरे मनोरथको पूर्ण करेंगे। जिस भाँति मेरे पिता प्रतिज्ञासे बँधे हैं, उसी भाँति जगत्पिता अपने वचन (वेदवाक्य) से बँधे हैं। यहाँ अनुवादरूपसे श्रुतिहीका उल्लेख है।

नोट—२ *'तन मन बचन मोर पन''* में *'जो'* पद न देकर जनाया कि हमारा स्नेह तो सच्चा है ही इसमें *'जो'* की बात ही नहीं मुझे तो रामजी मिलेंगे ही पर यह बात सभीके लिये सत्य है कि जिसका जिसपर प्रेम होगा, पर सच्चा, उसको वह मिलेगा। सत्य प्रेमसे रामजी झट मिल जाते हैं और तरह नहीं; क्योंकि *'रामहि केवल प्रेम पियारा।'*

नोट—३ कबीर साहबका वचन है—*'आशा तहँ बासा' 'जाकी सुरति लगी है जहाँ। कहै कबीर सो पहुँचे तहाँ।'* जिसकी जहाँ आशा लगी है वह वहीं पहुँच जाता है। यहाँ जानेका भी प्रयोजन नहीं। वह स्वयं आकर प्राप्त हो जाते हैं। सच्चा स्नेह चाहिये, जैसे मछलीका जलसे। यथा—*'निगम अगम साहिब सुगम राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह॥'* (दो० ८०) अर्थात् भोजन और जलपर सबका स्नेह है इससे वह सबसे सुलभ है। इसी तरह यदि वेद-शास्त्रोंको भी अगम श्रीरामजीके लिये सच्चा प्रेम हो तो वे भी सुलभ हो जाते हैं।

नोट—४ *'करिहि मोहि रघुबर कै दासी॥ जेहि के''* में आत्मतुष्टि अलङ्कार है। क्योंकि यहाँ अपने स्वभावका दृढ़ विश्वास कह रही हैं।

श्रीराजारामशरणजी—(२५९। १-२ वाले नोटसे शृङ्खलाबद्ध) वह अनमोल मोती है—*'जेहि के जेहि*

पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥' यह है प्रेमके विश्वासका मूल मन्त्र। पदोंमें कितना प्रेम, कितना ईश्वरपर विश्वास, कितनी प्रणकी दृढ़ता और कितना धैर्य है, यह विचारणीय है। २—कविवर शैक्सपियरने भी Merchant of Venice 'वेनिसके सौदागर' नामी नाटकमें कुछ इस मूल मन्त्रकी व्याख्या की है। वहाँ भी पिताके प्रण और हृदयकी भावनामें बहिरङ्ग अन्तर था। पोर्शियाको इसीसे मैं श्रीसीताजीकी सहेली कहा करता हूँ। कारण कि वहाँपर भी भगवान्‌पर विश्वास, धैर्य, आत्मत्याग और भाव-संयम हैं। लेकिन वहाँ सीताजीकी गम्भीरता नहीं है और मूलमन्त्र भी इतना स्पष्ट नहीं लिखा गया। ३—दोनों कवियोंने ऐसे प्रेमका परिणाम सुखमय लिखा है। इसके विपरीत मर्यादविलङ्घनवाले प्रेमका परिणाम नाटककार शैक्सपियरने भी 'ओथेलो' नामी नाटकमें दुःखान्तक ही लिखा है। रोमियो और जूलियटका भी प्रेम शुद्ध है, मगर वहाँ लड़कपनकी जल्दबाजी है। ४—आर्य और अनार्य सभ्यताओंके प्रेम और विवाह-पद्धतिके ये प्रसङ्ग बड़े कामकी चीजें हैं। ५—प्रेमकी दृढ़ता और 'भरोसे' की अमिटतापर मुझे दो पद याद आये बिना नहीं रहते। (क) *मिटायें मुझे पर मिटायेंगे कैसे? कि नकशे वफा नक्शे फानी नहीं है।'* (ख) *'हरगिज़ न मीरद आं कि दिलश जिंदा शुद ब इश्क। सब्द अस्त बर जरीदयै आलम दवामे मा।'* (अर्थात् जिसको हृदयके प्रेमने सजीव बना दिया है वह अमर है और उसकी अमरता सृष्टिके पृष्ठोंपर लिखी है।)

☞ तुलसीदासजीकी संकेतकला सराहनीय है। प्रेम-प्रणकी गम्भीरताके कारण उसकी व्याख्या हो नहीं सकती। अन्तर स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि एक कविने भावावेगमें सीताजीसे कहला दिया कि मैं तो रामको ही बरूँगी, धनुष 'टूटै तो कहा और न टूटै तो कहा है' और यह न सोचा कि सीताजीके चरित्रको मिट्टीमें मिला दिया।

प्रभु तन चितै प्रेम तन* ठाना। कृपानिधान रामु सब जाना॥ ७॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुरु† लघु ब्यालहि जैसे॥ ८॥

अर्थ—प्रभुके तनको (वा प्रभुकी ओर) देखकर शरीरसे प्रेम ठान लिया (अर्थात् यह प्रण कर लिया कि यह शरीर तो इन्हींका होकर रहेगा, अन्यथा नहीं)। दयासागर श्रीरामजी सब जान गये॥ ७॥ श्रीसीताजीको देखकर उन्होंने धनुषको कैसे ताका जैसे गरुड़जी एक छोटेसे सर्पको ताकते हैं॥ ८॥

नोट—भा० दा० का पाठ *'प्रेम पन'* है—इसीपर पं० रा० कु० के टिप्पण हैं।

श्रीराजारामशरणजी—१ *'प्रभु तन चितै'* कितना स्वाभाविक है, पर प्रभावमें कितना माधुर्य, शृङ्गार, कितनी सकरुणता, कितना रामप्रेम और रामपरख है, कहते नहीं बनता। २—*'प्रभु'* शब्द *'पदसरोज'* (*रघुपति पद सरोज चितु राचा*) के साथ शृङ्गारको शान्तरसके शिखरपर पहुँचा देता है और नाटकोय कला महाकाव्यकलामें लीन हो जाती है। यह शृङ्गारका मिटना नहीं वरंच सफल होना है और इस दृष्टिकोणसे *'रघुबर'* शब्दका संकेत है कि गजब है? 'नसीम' भी मुग्ध होकर झूम जायेंगे।

☞ याद रहे कि यह सब 'सत्य' स्नेहके लिये है न कि ऐसे प्रेमके लिये कि जिसके सम्बन्धमें मेरे सहकारी मित्र 'सेहर' जीका एक हास्यप्रद पद है कि *'जिसको देखा उसी पे मरने लगे। आप हैं एक अजीब आशिकजार।'*

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना'* इति। भाव कि प्रभुका शरीर अति कोमल है, इससे धनुष नहीं टूट सकता; अतः प्रेमपन करती हैं कि हमारे सत्य प्रेमके प्रभावसे धनुष तोड़ें। प्रथम अपने सुकृतोंका बल लगाया, यथा—*'होहु प्रसन्न महेस भवानी।''आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा।'* इत्यादि। सेवकाई सुकृत है। इनसे संदेह न निवृत्त हुआ। और यहाँ कहती हैं कि सत्य स्नेहसे मिलते हैं अतः निस्संदेह मिलेंगे। इससे निश्चय हुआ कि सेवारूपी सुकृतसे रामप्रेम अधिक है। यदि रामजीका तन दृढ़ होता तो प्रेमपन ठाननेका काम ही क्या था? अत्यन्त कोमल तन देखकर प्रेमपन ठानना पड़ा। प्रेमीपर भगवान् कृपा करते हैं इसीसे

* 'पनु' —प्रायः औरोंमें। तन—१६६१। †गरुड़—१७०४, को० रा०।

आगे कहते हैं कि *'कृपानिधान'''* । (ख) *'कृपानिधान रामु सब जाना'*, यथा—*'करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।'* (२३६) श्रीजानकीजीपर कृपा की। उनके हृदयकी सब बात जान गये क्योंकि 'राम' हैं। सबमें रमते हैं। *'तौ भगवानु सकल उर बासी'* को यहाँ चरितार्थ किया, सबके उरवासी हैं, अतः सब जान गये। ☞यहाँ स्पष्ट कर दिया कि श्रीराम ही भगवान् हैं, यह न कोई समझे कि राम कोई और हैं, भगवान् और हैं। माधुर्यके अनुकूल जानकीजी उनको पृथक् कहती हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'सियहि बिलोकि'''।'* श्रीसीताजीने प्रभुको देखकर प्रेमप्रण ठाना; इसीसे श्रीरामजीने भी उनको देखकर धनुषको ताका, ताककर सूचित किया कि धीरज धरो, हम अभी धनुषको तोड़ते हैं, इससे यह भी सूचित हुआ कि श्रीसीताजीका दुःख उनसे न देखा जा सका। यह देखकर कि ये हमारे लिये शरीर छोड़नेका प्रण कर चुकीं, धनुषको ताका कि अब इसे तुरत तोड़ डालें। (ख) *'चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसे'* इति। धनुषको *'लघु'* सर्प कहनेका भाव कि जो धनुष सब राजाओंको बहुत कठोर और भारी था वही श्रीरामजीको तुच्छ वा बहुत हलका है जैसे भारी सर्प भी गरुड़के लिये लघु ही है। पुनः भाव कि जैसे गरुड़को देखकर बड़े-बड़े सर्प भी डरके मारे सिकुड़कर बिलकुल छोटे हो जाते हैं वैसे ही श्रीरामजीके ताकते ही यह धनुष उन्हें देखकर लघु हो गया, यथा—*'दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु, महा ब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है।'* (गीतावली १। ९०) पुनः, सर्पकी उपमा देनेका भाव कि जिस धनुष-रूपी सर्पने समस्त राजाओंको डस लिया था सो भी इनके आगे सहम गया। और जैसे लघुव्यालके मारनेमें गरुड़को किञ्चित् श्रम नहीं वैसे ही धनुषको तोड़नेमें श्रीरामजीको किञ्चित् श्रम नहीं होनेका, यथा—*'छुअतहि टूट पिनाक पुराना'*, इस तरह *'चितव गरुरु'* का भाव यह हुआ कि अब धनुषको झपटकर तोड़ना ही चाहते हैं, देर नहीं है। [पुनः भाव कि जैसे गरुड़की दृष्टि जब सर्पपर पड़ती है तब फिर वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो अथवा सिकुड़कर अत्यन्त लघु ही क्यों न हो गया हो, वे उसे नहीं छोड़ते। वैसे ही यह धनुष हमारे लिये यद्यपि लघु है अथवा हमें देखकर लघु हो गया है तो भी हम इसे बिना तोड़े न रहेंगे। (प्र० सं०)]

☞श्रीसीताजीको देखकर उनपर कृपा की, अपनी कृपादृष्टिसे उनको जीवित रख लिया। इन्हींकी ओर देखकर धनुषको ताका, कारण कि पुरवासियोंने तो श्रीरामजीके लिये अपने सुकृत लगाये और इन्होंने अपना प्रेम लगाया। और श्रीरामजी सब सुकृतोंसे अधिक प्रेमसे कृपा करते हैं। इसीसे इनपर तुरत कृपादृष्टि डाली। ☞पूर्व और आगे भी यत्र-तत्र लिखा गया है कि श्रीरामजी अनन्यगतिक प्रेमसे तुरत कृपा करते हैं। वही नियम यहाँ भी लागू देखिये। जबतक श्रीसीताजी औरों (धनुष, गिरिजा, गणेश, सुकृत आदि) की शरण गयीं तबतक भगवान्ने परवा न की, पर ज्यों ही श्रीरामजीमें प्रेम-प्रण ठाना, त्यों ही उन्होंने कृपा की।

नोट—१ *'सियहि बिलोकि'''।'* भाव यह कि जब तुम मेरे लिये शरीर ही छोड़नेकी ठान रही हो तो मैं इसे क्यों न तोड़ूँगा? जिसे हे प्रिये! तुम कठिन समझ रही हो उसे देखो तो मैं कैसे सहज ही नष्ट किये डालता हूँ। अपने (*गरुरु लघु ब्यालहि जैसे*) ताकनेके ढंगसे ही उनको आश्वासन दे रहे हैं। सूक्ष्म और उदाहरण अलङ्कार हैं।

नोट—२ श्रीगौड़जी कहते हैं कि यह चलते-चलतेकी घटना है। उधर किशोरीजीने प्रेमपन ठाना, इधर इशारेसे आश्वासन भी दे दिया। साथ ही ताकनेसे लखनलालजीने सजग करानेका इशारा पाया। पिनाकका टूटना ऐसी-वैसी घटना न थी। अतः—एक निगाहमें उधर आश्वासन और इधर सावधान करना, दोनों काम सधे।

नोट—३ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'सर्पके भय वा डसनेसे तीन बातें होती हैं—मृत्यु, मरनेपर विभूतिका छूट जाना और अपमृत्युरूपी अपयश। मानी राजाओंके धनुषस्पर्शसे श्रीराम-विमुखतारूपी मरण, *'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर सरबस हारी॥'* यह विभूतिका छूटना और *'सब नृप भये जोग उपहासी'* यह अपयश हुआ।'

नोट—४ श्रीजानकीजीके अति परितापका प्रसङ्ग सूक्ष्मरूपसे जानकीमङ्गलमें भी है। यथा—*'कहि न*

सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ। गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ॥ ६२॥ होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं। फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहिं॥ धीरज धरति सगुन बल रहत सो नाहिन। बरु किसोर धनु घोर दइउ नहिं दाहिन॥ ६३॥ अंतरजामी राम मरम सब जानेउ' प्रेम परखि रघुबीर सरासन भंजेउ।' पर मानसके *'प्रेम तन ठाना'* को वह नहीं पाता।

श्रीराजारामशरणजी—प्रगतियाँ, आँखके इशारों इत्यादिका सूक्ष्म चित्रण, उनके भावों और प्रभावोंका वर्णन तुलसीदासजीकी कलाका वह कमाल है कि फिल्मकला भी हार मान जायगी।

'प्रभु तन चितै' इत्यादिके कुछ भाव ऊपर लिखे गये और प्रभाव अब लिखा जाता है। कृपानिधान रामने कितना ठीक सीताजीके भावोंको समझा है। वे ताड़ गये कि हमारी मूर्तिकी सुकुमारताके कारण वे ऐश्वर्यको भूल गयीं, हैं, इसीसे केवल चितवनसे ऐश्वर्य बताकर उनके हृदयको शान्त कर रहे हैं कि तुम व्यर्थ ही 'चाप' से अपील कर रही हो, वह है ही क्या? [महाकाव्यकलामें नाटकी कलाका मिश्रण कितना सूक्ष्म और सुन्दर है? माधुर्यमें सीताजी श्रीरामजीको भगवान्‌से भिन्न व्यक्ति समझ रही थीं। भगवान्‌से अपील है, इसीलिये रघुवररूपमें उन्हीं 'कृपानिधान' ने उन्हें दासी (पत्नी) रूपमें स्वीकार किया।] स्वीकृतिकी संकेतकला सराहनीय है।

दो०—लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंडु।
पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांडु॥ २५९॥

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीने शिव-धनुषको ताका (अर्थात् अब तोड़ना चाहते हैं) यह लक्ष्मणजीने 'लख लिया' शरीरसे पुलकित होकर और ब्रह्माण्डको चरणसे दबाकर वे ये वचन बोले॥ २५९॥

टिप्पणी—१ *'लखन लखेउ'* इति। भाव कि धनुषपर तो श्रीरामजीकी दृष्टि पहले भी पड़ती रही पर जब तोड़नेकी दृष्टिसे उन्होंने उसे ताका तब उस दृष्टिको कोई न लख पाया। लक्ष्मणजी लख पाये, इसीसे *'लखन'* (लखनेवाले) नाम दिया।

टिप्पणी—२ *'रघुबंसमनि।'* भाव कि रघुवंश वीरोंमें प्रधान है, यथा—*'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई।'*' उस वंशके ये मणि हैं, भाव कि प्रत्येक रघुवंशी इसे तोड़ सकता है और ये तो सबमें श्रेष्ठ हैं, अर्थात् वीरशिरोमणि हैं, जब इन्होंने उसे ताका है तब वह बच ही कैसे सकता है?

टिप्पणी—३ *'पुलकि गात।'* वीरताके समयमें वीरको पुलकावली होती ही है। श्रीलक्ष्मणजी वीर हैं (और वीरोंको वीरता भाती है) अतः इनको बड़ी प्रसन्नता हुई, यथा—*'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥'* (५। ५८) ☞ जहाँ-जहाँ वीरताका काम होता है वहाँ-वहाँ इनकी प्रसन्नता देखनेमें आती है। (पुलक यहाँ हर्ष जना रहा है आनन्दातिशयसे पुलक हो गया।)

टिप्पणी—४ *'चरन चापि ब्रह्मांडु।'* इति। इससे पाया गया कि यदि ये उसे न दबाये रहते तो वह उलट जाता। ☞ यहाँ शंका होती है कि लक्ष्मणजी मञ्चपर बैठे हुए हैं, जब उन्होंने ब्रह्माण्डको दबाया तब मञ्च क्यों न टूट गया? इसका समाधान यह है कि चरणसे किञ्चित् दबानेसे ब्रह्माण्ड दब गया। जैसे श्रीशङ्करजीने अँगूठेसे किञ्चित् कैलासको दबाया तो रावण दब गया था। यहाँ लक्ष्मणजीका ऐश्वर्य दिखा रहे हैं। (वे ईश्वर हैं, किञ्चित् चरणसे दबानेका इशारा करना ही दबाना है। इनके तो इशारेमात्रसे प्रलय हो जा सकता है। इन्हींके लिये तो श्रीरामजीने कहा है—*'तुम्ह कृतांतभक्षक सुरत्राता।'* (६। ८३) पुनः जैसे जापकका जप देवतातक पहुँच जाता है वैसे ही इनकी आज्ञा कच्छप, शेष, वराह, दिग्पालतक पहुँच गयी।) आगे वे दिशाओंके हाथियों इत्यादिको आज्ञा दे रहे हैं। आज्ञा देना ऐश्वर्यहीमें घटित होता है।

नोट—१ लक्ष्मणजीकी इस चेतावनीसे अप्रत्यक्षरीत्या उन 'भटमानियोंको' भी सूचना मिल गयी, जो धनुष टूटनेपर भी लड़नेवाले थे, कि रण करनेके भरोसे न रहना, यहाँ ब्रह्माण्डको चलाने, कँपाने और रोकनेका सामर्थ्य रखनेवाले शूर हैं। उनकी डींग हाँकनेका यह अत्यन्त सुन्दर उत्तर ध्वनित हुआ है। (गौड़जी)

नोट—२ (श्रीराजारामशरणजी)—श्रीरामजीके आँखके इशारेका दूसरा प्रभाव लक्ष्मणजीपर पड़ा। वे 'पुलकायमान हो गये [कितनी हमदर्दी (सहानुभूति), कितनी वीरता और कितना हर्ष है!] यहाँ तो लक्ष्मणजी स्पष्ट ही *'जगदाधार अनंत'* रूप हैं। आगे *'आयसु'* का शब्द साफ है। कला अब महाकाव्यकी ओर जा रही है। मगर आयसु थोड़े ही शब्दोंमें है, इससे नाटककीकला गयी नहीं, थोड़ी ही देरमें सब भूल जायँगे और लक्ष्मणजीको *'लखनलाल'* ही समझने लगेंगे, इस समय भी *'आयसु'* के एक शब्दको किसीने सुना हो, किसीने नहीं, अधिक लोगोंने तो *'राम चहहिं संकर धनु तोरा'* के साथ *'दिसि कुंजरहु'* इत्यादिको प्रार्थना ही समझा होगा, इसीसे तो अब भी 'सुर' मना रहे हैं और संशय तथा अज्ञानमें हैं।

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ १॥
रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥ २॥
चाप समीप रामु जब आए। नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाए॥ ३॥

शब्दार्थ—**दिसि कुंजर**=दिशाओंके हाथी=दिग्गज। पुराणोंके अनुसार आठों दिशाओंमें उन दिशाओंकी रक्षा तथा पृथ्वीको स्थित रखनेके लिये, आठ दिग्गज स्थापित हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं— पूर्वमें ऐरावत, पूर्वदक्षिणके कोनेमें पुण्डरीक, दक्षिणमें वामन, दक्षिणपश्चिममें कुमुद, पश्चिममें अञ्जन, पश्चिमउत्तरके कोनेमें पुष्पदंत, उत्तरमें सार्वभौम और उत्तरपूर्वके कोनेमें ससतीक (सुप्रतीक)। (श० सा०) वाल्मीकीयमें सगरपुत्रोंके पृथ्वी खोदनेकी जहाँ चर्चा है वहाँ चार दिग्गजोंका दर्शन सगरपुत्रोंको होना लिखा है। वहाँ चार दिशाओंके दिग्गजोंके नाम क्रमसे ये हैं—(पूर्व) विरूपाक्ष, (दक्षिण) महापद्म, (पश्चिम) सौमनस, (उत्तर) भद्र। ये चारों दिशाओंमें पृथ्वीको धारण किये थे। (वाल्मीकि० १। ४०। श्लो० १४, १८, २०, २२) भक्तमालमें नाभाजीने ऋषभ, पुहकर (पुष्कर), पराजित और वामन ये नाम दिये हैं। यथा—*'चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति-भूमि दाबे रहैं। श्रुतिप्रज्ञा श्रुतिदेव ऋषभ पुहकर इभु ऐसे। श्रुतिधामा श्रुतिउदधि पराजित बामन जैसे।'''।'* (छप्पय ३२)

अर्थ—हे दिशाओंके हाथियो! हे कच्छप! हे शेष! हे वाराह! धीरज धरकर (सावधान होकर) पृथ्वीको धारण करो, वह हिलने न पावे॥ १॥ श्रीरामजी शंकरजीके धनुषको (अब) तोड़ने (ही) चाहते हैं। मेरी आज्ञा सुनकर सावधान हो जाओ॥ २॥ जब श्रीरामचन्द्रजी धनुषके समीप आये, (तब) सभी स्त्री-पुरुषोंने देवताओं और अपने पुण्योंको मनाया॥ ३॥

टिप्पणी—१ दिशिकुञ्जर बहुत हैं, इससे *'दिसि कुंजरहु'* बहुवचन शब्द दिया। कमठ, शेष, वाराह एक-ही-एक हैं इससे एकवचन कहा। दिग्गज, कच्छप, शेष और वाराह क्रमसे कहे गये। पृथ्वी धारण करनेवालोंमें सबसे नीचे प्रथम वराह हैं, उसपर शेष हैं, शेषपर कच्छप हैं और कच्छपके ऊपर दिग्गज हैं। पैरसे दबानेमें प्रथम दिग्गज फिर क्रमसे अन्य पड़ते हैं, अतः उसी क्रमसे कहा।

नोट—१ हनुमन्नाटक अङ्क १ श्लोक २१ के मिलानेसे *'दिसिकुंजरहु'''* आदि वाक्योंके भाव और भी स्पष्ट हो जाते हैं। यथा—'**लक्ष्मणोः (रामे सज्जं धनुः कुर्वति सति पृथ्व्यादीनि भुवनान्यधो यास्यन्तीत्याशङ्क्याह) पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः। दिक्कुञ्जराः कुरुत तत् त्रितये दिधीर्षां रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्।**' अर्थात् लक्ष्मणजी (रामजीके धनुष चढ़ानेमें पृथ्वी आदि भुवन नीचेको चले जायँगे ऐसी शङ्का कर बोले) हे पृथ्वी! तुम स्थिर हो जाओ, हे शेषजी! तुम इसको धारण करो, हे कच्छपराज! तुम इन दोनों अर्थात् पृथ्वी और शेषको धारण करो, क्योंकि श्रीरामजी शिवजीके धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाते हैं।

इस श्लोकमें 'कोला' (वराहभगवान्) का नाम नहीं है। श्लोकमें पृथ्वीको आज्ञा दी गयी है कि स्थिर हो जाय। यह स्वयं अपने बलसे स्थिर नहीं रह सकती, सम्भवतः इसीसे मानसमें पृथ्वीको आज्ञा नहीं दी गयी।

व्रजरत्नभट्टाचार्यकी टीकाके अनुसार यह श्लोक इसका प्रमाण है कि शेषजी पृथ्वीको धारण किये हुए हैं, कच्छपभगवान् शेषको और दिग्गज सबको। परंतु पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २३४ में लिखा है कि देवताओंने कच्छपभगवान्से वर माँगा कि शेष और दिग्गजोंकी सहायताके लिये आप पृथ्वीको धारण करें। उन्होंने ऐसा

ही किया। (श्लोक १७-१८) विशेष भाग १, दोहा २० (७) में देखिये। इससे तो यही सिद्ध होता है कि पृथ्वी, दिग्गज और शेष तीनोंकी सहायता कच्छपभगवान् कर रहे हैं।

इतनेपर भी हिरण्याक्ष पृथ्वीको ले गया। सम्भवतः इसी विचारसे वराहावतार होनेपर ब्रह्मादिने वराह-भगवान्‌से पृथ्वीको धारण करनेकी प्रार्थना की। इसीसे प० पु० में कहा है कि हिरण्याक्षको मारकर भगवान्‌ने पृथ्वीको शेषपर स्थापितकर कूर्मको स्वयं धारण किया। यथा— '**पतितां धरणीं दृष्ट्वा दंष्ट्रयोद्धृत्य पूर्ववत्। संस्थाप्य धारयामास शेषे कूर्मवपुस्तदा॥**' (प० पु० उ० २३७। १८) इससे सिद्ध हुआ कि शेषके नीचे कच्छप और कच्छपके नीचे वराहभगवान् हैं।

पं० रामकुमारजीने किस प्रमाणसे कच्छपके नीचे शेषको लिखा यह अपनेको नहीं मालूम और न हनु० ना० के मतका प्रमाण मिला कि दिग्गज कच्छपको धारण किये हुए हैं। दिग्गज तो चारों कोनोंमें स्थित हैं, इसलिये हनु० ना० का मत भी ठीक हो सकता है।

गीतावलीमें लक्ष्मणजीकी आज्ञा इस प्रकार हुई है—'*लषन कह्यो थिर होहु धरनि धरु धरनि धरनिधर आज॥ १॥ कमठ कोल दिगदंति सकल अंग सजग करहु प्रभु काज।*' (१। ८८) इसमें कमठ, कोल, दिग्गज यह क्रम है। सुन्दरकाण्डके '*चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।*''*सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहि मोहई। गह दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥*' (५। ३५) से तो गोस्वामीजीका मत स्पष्ट है कि शेषके नीचे कच्छप हैं तभी तो उनकी पीठपर शेषजीके दाँत बराबर पड़ते हैं। मेरी समझमें यहाँ धारण करनेके क्रमसे दिशिकुञ्जरादि नहीं लिखे गये, प्रत्युत छन्द बैठानेके लिये इस क्रमसे उल्लेख हुआ। क्रमसे '*अहि कमठ कोला*' लिखनेसे छन्द बैठता नहीं।

टिप्पणी—२ (क) पृथ्वी धारण करनेवालोंको आज्ञा देते हैं कि पृथ्वी न हिलने-डोलने पावे, क्योंकि उसके हिलनेसे सृष्टिका नाश हो जायगा। पृथ्वी सबको धारण किये है, इसीसे यहाँ '*धरनि*' नाम दिया। यदि सबको धारण करनेवाली ही डोल जायगी तो सभी व्याकुल हो जायँगे। (ख) '*धरि धीर*' इति। धैर्यका धारण करना और पृथ्वीका न डोलना दोनों बातें कठिन हैं; इसीसे आगे आज्ञा देते हैं। सावधान होनेपर भी धीरज छूट गया और पृथ्वी डोल गयी, यथा—'*चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले।*'

टिप्पणी—३ (क) '*राम चहहिं संकर धनु तोरा*''*।*' इति। दिग्गजादि सब दिव्य हैं, ये सब श्रीरामजीके बल और धनुषकी कठोरता जानते हैं; इसीसे लक्ष्मणजीने न तो श्रीरामजीका बल कहा और न धनुषकी कठोरता ही कही, न यही कहा कि किस तरहसे पृथ्वीको हिलने न दें और न यह कहा कि अमुक ठौरपर भारी बोझ पड़ेगा, वहाँ थामनेका काम है और अमुक ठौरपर उलटनेका डर है, वहाँ उसको पकड़े रहनेका काम है, इतना ही कह दिया कि सावधान हो जाओ—'*होहु सजग।*'—पुनः दूसरा भाव यह कि लक्ष्मणजीका आज्ञा देना ही श्रीरामजीका बल और धनुषकी कठोरताको विदित कर रहा है। जब कोई भारी काम है तभी तो लक्ष्मणजी आज्ञा दे रहे हैं, नहीं तो आज्ञा क्यों देते? (ख) '*दिग्गज कमठ सेष बराह*' तो हजारों कोसोंकी दूरीपर हैं, उन्हें आज्ञा कैसे सुन पड़ी? ठीक उसी तरह जिस तरह कि देवता हमसे लाखों कोसोंकी दूरीपर होते हुए भी आवाहन सुन लेते हैं। ये दिग्गजादि दिव्य हैं। पुनः, श्रीलक्ष्मणजी ईश्वर हैं, ईश्वरकी वाणी सर्वत्र पहुँच सकती है। पुनः, देखिये कि मन्त्रजाप मनमें होता है परंतु उससे मन्त्रके देवतातक खबर पहुँच जाती है। इत्यादि रीतिसे समाधान हो जाता है। (ग) '*सुनि आयसु मोरा*' से सिद्ध होता है कि लक्ष्मणजी शेष, वराह, कमठ आदिके नियन्ता हैं।—'*सहस्रसीस जग कारन*' हैं। (घ) '*होहु सजग*' से सूचित हुआ कि यदि ये सजग न किये जाते तो पृथ्वी इनसे छूटकर अथवा इनके सहित उलट जाती।

वि० त्रि०—लक्ष्मणजी जगत्के विभु होनेसे सकल जगत्के आधार हैं अर्थात् ब्रह्माण्डमात्रके आधार हैं, शेषोंकी समष्टि है, अतः सभी व्यष्टियोंपर इनकी आज्ञा चलती है। शिवधनुषके तोड़नेमें जिस शक्तिका प्रयोग होगा, उससे ब्रह्माण्डमें हलचल न हो, अतः वैसे ब्रह्माण्डको दबाकर वचन बोले। भाव कि ऊपरसे मैं दबाये हूँ, नीचेसे तुमलोग सँभालना।

सभी वस्तुओंमें ऐसी शक्ति निहित रहती है, जिससे उसका स्वरूप बना रहता है। उस वस्तुके विनाशमें उससे अधिक शक्तिका प्रयोग होता है। शिवजीके धनुषमें बड़ी बलवती शक्ति निहित है, धनुषके टूटनेसे जब वह छूटेगी तो ब्रह्माण्डमें उलट-पलट कर देगी।

अति शक्तिशाली पदार्थका प्रभाव अति क्षुद्र जन्तुओंपर नहीं पड़ सकता। उसका प्रभाव उन्हींपर पड़ता है जो उसके स्पन्दनके अनुभूतिके पात्र हों। जैसे हजारों बंदूकोंके एक साथ छूटनेसे जो शब्द होता है, उसके स्पन्दनको हमारी श्रवणेन्द्रियाँ सम्यक् रूपसे ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः हमलोगोंको हलकी आवाज सुनायी पड़ती है। इसी तरह शिवधनुष-भङ्गका प्रभाव पृथ्वी या ब्रह्माण्डपर विशेषरूपसे पड़ सकता था, मनुष्योंपर उतना नहीं।

टिप्पणी—४ (क) *'सुर सुकृत मनाए'* इति। कैसे मनाया यह विस्तारसे प्रथम लिख आये हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये, यथा—*'बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे।'''* (२५५। ६—८) अथवा यहाँ संक्षेपसे मनाया, इसीसे संक्षेपसे लिखा; क्योंकि अब अवकाश नहीं है, अब धनुषके पास पहुँच गये हैं, उसे तोड़ना ही चाहते हैं। (ख) बार-बार सुर-सुकृत मनानेसे ज्ञात होता है कि इनको अपने सुकृतों और देवाराधनका बड़ा बल-भरोसा है। अथवा यह भक्तोंकी रीति है कि जब कार्य करने चलते हैं तब और जब कार्य करते हैं तब भी सुर-सुकृत मनाते हैं, यथा—*'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥'* (और फिर जब समुद्र लाँघने चले तब, पुनः रघुवीरजीका स्मरण किया यथा—) *'बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी॥'* अथवा धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी कोमलता देखकर सबका चित्त व्यग्र है, इससे बारम्बार मनाते हैं। [अथवा, जब श्रीरामजी चले तब अपने सुकृतोंको प्रयोग करनेके लिये स्मरण किया था और जब वे धनुषके निकट पहुँच गये तब उनका प्रयोग किया, इसीसे वहाँ *'सँभारे'* कहा और यहाँ *'मनाए'* भाव यह कि अब समय आ गया, सहाय हूजिये। (वि० त्रि०)]

नोट—२ (२५५। ५) के *'सहजहि चले सकल जग स्वामी'* की निर्दिष्ट क्रियाकी इस *'चाप समीप राम जब आए।'''* (२६०। ३) से पूर्ति होती है, 'चले और पहुँच गये' इतनेके बीचमें जिनके जो मनोभाव हुए, महाकविने उनका कैसा ध्वनिपूर्ण वर्णन किया है। (गौड़जी)

सब कर संसउ अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥ ४॥
भृगुपति केरि गरबु गरुआई। सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई॥ ५॥

अर्थ—सबका संदेह और अज्ञान, मूर्ख दुर्बुद्धि (अधम) राजाओंका अभिमान॥ ४॥ परशुरामजीके गर्वकी गुरुता (भारीपन, गौरव), देवताओं और मुनिवरोंका कादरपन॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'सब कर संसउ अरु अज्ञानू'* इति। 'रामजी अत्यन्त कोमल हैं, धनुष अत्यन्त कठोर है; उनसे धनुष कैसे टूटेगा यह सबको संदेह है। श्रीरामजीके यथार्थ पराक्रम और स्वरूपको कोई नहीं जानते, सब मोहमें पड़े हैं कि ये अति सुकुमार हैं। इसीसे सबका संशय और *'सब'* का अज्ञान कहा। धनुष टूटनेपर सबका संशय और अज्ञान नष्ट हो जायेगा, इसीसे धनुषरूपी जहाजपर *'सब'* के संशय और अज्ञानको चढ़ाकर इनका नाश धनुषके साथ कहेंगे। अज्ञान कारण है और संशय कार्य है, कारणसहित कार्यका नाश होगा। *'सब'* में श्रीजनकजी भी आ गये, यथा—*'मुनिबर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहिं। तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहिं॥ बानु बानु जिमि गयउ गवहिं दसकंधरु। को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु॥ पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एक नारिब्रत पालक॥ सो धनु कहि अवलोकन भूपकिसोरहि। भेद कि सिरिससुमनकन कुलिस कठोरहि॥'* (जा० मं०। ५७-५८) गीतावलीका उद्धरण पूर्व आ चुका है। आगे व्यक्तिगत एक-एककी प्रधान वस्तु कही है। (ख) *'मंद महीपन्ह कर अभिमानू'* इति। 'मंद राजाओंका अभिमान तो तभी नष्ट हो गया जब उनसे धनुष उठा नहीं, यथा—*'श्रीहत भये हारि हिय राजा।'* अब कौन अभिमान है जिसका नाश धनुष टूटनेपर होगा?' उनको अभिमान यह है कि जब हम ऐसे वीरों और बलवालोंसे धनुष न टूटा

तो इनसे क्या टूटेगा। यह अभिमान धनुष टूटनेपर नष्ट हो गया। अथवा जब अधम राजाओंसे धनुष न टूटा तब उनका अभिमान नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें यह संतोष बना रहा कि किसीसे तो नहीं उठा तब यदि हमसे भी नहीं उठा तो इसमें लज्जाकी कौन बात? परंतु जब श्रीरामजीने उसे तोड़ डाला तब अपनेसे अधिक बल उनमें देखकर अपने बलका अभिमान जाता रहा। इसीसे उनके अभिमानको भी धनुषरूपी जहाजपर चढ़ाया। (ग) धर्मात्मा राजाओंको अभिमान नहीं है, वे तो धनुषके पास भी नहीं गये, यथा—'***जिन्ह के कछु बिचार मन माहीं***'।' इसीसे केवल '***मंद***' अर्थात् अधम राजाओंका अभिमान कहा। (बैजनाथजीका मत है कि राजाओंको अभिमान है कि हम जीतकर विवाह करेंगे।)

टिप्पणी—२ (क) '***भृगुपति***' इति। भृगुजीने भगवान्‌की छातीपर लात मारी और भगवान् उनके पैरों पड़े, यह भृगुजीकी बड़ाई है। परशुरामजी भृगुकुलके पति हैं यह परशुरामजीकी बड़ाई है। (ख) '***गरबु गरुआई***' इति। क्षत्रियोंके जीतनेका गर्व है, यथा—'***बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित क्षत्रियकुल द्रोही॥***' और पृथ्वीभरके क्षत्रियोंको जीते हुए हैं, यह '***गरुआई***' अर्थात् बड़ाई है। भृगुपति हैं यह दूसरे प्रकारकी बड़ाई है। हारकर चले जानेपर ये दोनों प्रकारका बड़प्पन और गर्व न रह गया। इस धनुषके लिये श्रीरामजीसे वादविवाद करके उन्होंने अपनी '***गरबु गरुआई***' नष्ट की, इसीसे शिवधनुषरूपी जहाजपर उनके गर्व और गुरुताको चढ़ाया गया। धनुष टूटनेपर दोनों न रह गये। (ग) '***सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई***' इति। यह श्रीरामजीके माधुर्यकी प्रबलता है कि उनकी सुकुमारता देख धनुष टूटनेका विश्वास नहीं होता, यथा—'***निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।***' ब्रह्मादिको भी मोह हो जाता है, जैसे वत्सहरण प्रसङ्गसे स्पष्ट है। धनुष टूटनेपर सब प्रसन्न हुए। यथा—'***ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥***'

* 'परशुरामजी तो अभी आये नहीं, उनको भी इस समाजमें कैसे गिनाया?'*

पं० रामकुमारजी इसका समाधान करते हैं कि 'जब जहाज डूबता है तब उसके डूबनेपर 'बड़ी दूरका पानी खींचकर बोर' देता है (अर्थात् जहाजके पास वा दूरीपर भी जो होते हैं उनको भी पानी खींच लाकर डुबा देता है)। इसी तरह धनुषरूपी जहाजपर जो चढ़े वे डूब गये और परशुरामजीकी '***गरबु गरुआई***' जहाज डूबनेके पीछे आकर डूबेगी।' परंतु श्रीमान् गौड़जीका मत है कि 'पास होनेके कारण भ्रमरावर्त्तमें पड़कर डुबा देनेवाला समाधान संतोषजनक नहीं है, क्योंकि '***चढ़े जाइ सब संग बनाई***' से भृगुपतिकी गर्व गरुआईका सवार होना स्पष्ट है।

नोट—इस समाजमें गिनाकर कवि सूचित कर रहे हैं कि इसी रंगभूमि धनुर्भङ्गके बाद तुरत ही उनकी गर्व-गुरुताका दलन हो जायगा।

गौड़जी—'***सब कर संसउ अरु अज्ञानू।***'***चहत पार नहिं कोउ कड़हारू।***' यहाँ समुद्रमें जहाजके डूबनेका बड़ा विलक्षण रूपक दिखाया है। भगवान् रामचन्द्रजीका बाहुबल अपार सागर है; इसकी न तो थाह है और न कहीं किनारा है। सर्वशक्तिमान्‌के बलकी भी कहीं सीमा हो सकती है? धनुषरूपी जहाज अब '***चाप समीप राम जब आए***' उनके बलरूपी महासागरमें डूबनेवाला ही है। खेनेवाला कौन हो सकता है? शंकरका ही यह चाप है, जिसे चढ़ाकर वे विष्णुसे लड़ने चले थे तभी '**तदा तु जृम्भितं शैवधनुर्भीमपराक्रमम्**' पिनाक '**जृम्भित**' हो गया था, इसकी लच मिट गयी थी, कमानीकी शक्तिका, स्थिति स्थापकत्वका क्षय हो गया था। वही जब कर्णधार बने थे, तब यह दशा हुई थी। अब रामबाहुबलके पार खे ले जाना, अर्थात् धनुषका रामके हाथोंसे बचा लेना किसीके लिये सम्भव न था। परशुरामजी भी जो पीछेसे आकर हार कर गये, यदि आ जाते तो भी इसे बचा न सकते थे। उन्हें गर्व था कि जबतक पिनाक बना है, तबतक हमारी अव्याहत गति और हमारी वह दिव्य शक्ति बनी हुई है जिससे क्षत्रियोंका संहार किया था, परशुरामका गर्व पिनाकपर मुद्दतसे सवार था। जानकजीकी प्रतिज्ञाको सुननेपर भी उन्हें निश्चय था कि इस धनुषको कोई तोड़ न सकेगा, इसीलिये टूटनेके पहले नहीं आये। टूटनेकी आवाजपर इसीलिये दौड़ पड़े कि त्रिभुवनमें कोई मुझसे भी अधिक बलवान् पैदा हो गया है। उसका तुरन्त मुकाबला करना चाहिये।

टूटनेका शब्द उनके लिये ललकार थी। इसीलिये यहाँ *'भृगुपति केरि गरबु गरुआई'* तो बहुत पहलेसे इस जहाजपर सवार थी। इससे सबके 'संशय' और 'अज्ञान', मंद महीपोंका 'अभिमान', सुरमुनिकी 'कादरता', सीताजीका 'सोच', जनकजीका 'पछितावा' और रानियोंका 'दारुण दुःख' ये सातों भी संग बनाकर इस धनुषरूपी जहाजपर सवार हो गये। ये सब-के-सब [*'चहत पार'*] यह खयाल करते थे कि धनुष न टूटेगा [यह जहाज सागर पार हो जायगा, डूबेगा नहीं] हमलोग बच जायँगे। पर हुआ क्या? वह २६१ वें सोरठामें आया। *'बूड़ सो सकल समाज चढ़े जो प्रथमहि मोह बस।'* उनका खयाल गलत निकला। यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि *'भृगुपति केरि गरबु गरुआई'* की चर्चा पहले ही क्यों? परन्तु इतिहासपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी गर्व गरुआई उसपर पहलेसे ही सवार थी।

पास होनेके कारण भ्रमरावर्त्तमें पड़कर डुबा देनेवाला समाधान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि *'चढ़े जाइ सब संग बनाई'* से भृगुपतिकी गर्व गरुआईका सवार होना स्पष्ट है। पास होना और बात है।

यहाँ भृगुपतिकी अवाईके बादवाली गर्व गरुआईकी चर्चा होती तो *'सिय कै सोच जनक पछितावा, रानिन्ह कर दारुन दुख दावा'* के पहले ही क्यों चर्चा करके क्रम-भंग दोष लाया जाता? क्रमसे ही निश्चय होता है कि यह पहलेके गर्व गरुआईकी चर्चा है।

वि० त्रि०—परशुरामजीको बड़ा भारी गर्व था कि जगत्‌में मैं एक अप्रतिम वीर हूँ। यह धनुष मेरे गुरुजीका है, इसमें यदि कुछ पराक्रम काम कर सकता है तो मेरा ही काम कर सकता है, दूसरोंका किया कुछ नहीं हो सकता।

सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥ ६॥
संभु चाप बड़ बोहितु पाई। चढ़े जाइ सब संगु बनाई॥ ७॥
राम बाहु बल सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कड़हारू॥ ८॥

शब्दार्थ—'कड़हार'-'कन'=पतवार। 'कड़हार=पतवारका चलानेवाला=खेनेवाला। दावा=वनकी अग्नि, दावानल।

अर्थ—श्रीसीताजीका सोच, राजा जनकका पश्चात्ताप और रानियोंका कठिन दुःखरूपी दावानल॥ ६॥ ये सब समाज बनाकर शिवचापरूपी बड़ा जहाज पाकर जा चढ़े॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीके भुजबलरूपी अपार समुद्रके पार जाना चाहते हैं पर कोई कर्णधार (खेवैया) नहीं है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सिय कर सोच।'* सोच यह है कि इनसे धनुष न टूटेगा, यथा—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥'* इत्यादि। *'जनक पछितावा'* यह कि हमने यह प्रण व्यर्थ ही किया, यथा—*'जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई॥'* *'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा'* यह है कि कोई भी तो राजाको समझाता नहीं कि इनके लिये धनुष तोड़नेका हठ ठीक नहीं है, यथा—*'सखि सब कौतुक देखनिहारे।'''''* इत्यादि। (ग) दुःखको दारुन कहा, इसीसे उसे दावाग्निकी उपमा दी। अर्थात् जैसे दावाग्नि भयंकर होती है और भारी भी, वैसे ही रानियोंका दुःख भारी और भयंकर है। रानियाँ बहुत हैं, इसीसे उसे दावाग्नि अर्थात् वनकी अग्नि कहा।

टिप्पणी—२ (क) *'संभुचाप बड़ बोहितु''''।'* चढ़नेवाले बड़े भारी-भारी लोग हैं और बहुत हैं, इसीसे बड़ा जहाज चाहिये जिसमें सब समा जायँ। पुनः *'बड़ बोहितु'* का भाव कि भारी और दृढ़ समझकर इसपर चढ़े इस विचारसे कि राम बाहुबल सागरमें यह नहीं डूब सकेगा अर्थात् उनसे यह धनुष न टूटेगा। (ख) *'चढ़े जाइ'* कहनेका भाव कि इसपरके सब चढ़नेवाले (संशय, अज्ञान, अभिमान इत्यादि) हृदय (रूपी घर वा पुरके) निवासी हैं। ये सब वहाँसे निकल-निकलकर शिव-धनुषरूपी जहाजपर जा-जाकर चढ़े। इसीसे सब-के-सब जहाजके साथ डूब जायँगे। (ग) *'सब संग बनाई'* के दो अर्थ होते हैं—एक तो 'सब जाकर एक साथ ही अच्छी तरह चढ़े', दूसरे 'संग बनाकर सब, जा चढ़े' अर्थात् परस्पर मेल करके चढ़े, जिसमें परस्पर विरोध न हो, सब सुखपूर्वक पार हो जायँ। सब साथ

अच्छी तरह चढ़े इसीसे अच्छी तरह सब एक साथ नष्ट भी होंगे। (पाँड़ेजीका मत है कि 'संग बनाके यह समझा कि एक जायगा तो सब जायेंगे और एक रहा तो सब रहेंगे।') (घ) संशय, अज्ञान, अभिमान, गर्व, गरुआई, कदराई, सोच, पछितावा, दुःख—ये सब अविद्याके परिवार हैं, इन सबोंका साथ है। [ये नौ पथिक श्रीराम बाहुबलरूपी सिंधुके पार जानेके लिये शिवचापरूपी बड़े जहाजपर चढ़े। अर्थात् इन वस्तुओंके सहित सबके चित्तकी वृत्ति धनुषमें लगी है। (वै०)] भाव यह है कि अलग-अलग लोगोंमें इन्हीं नौ भावोंसे कोई-न-कोई काम कर रहा है पर सबके भावोंका आधार एकमात्र धनुष हो रहा है, और उसका संघर्ष रामबाहुबलरूपी अपार समुद्रसे हुआ ही चाहता है; अतः जनता स्तब्ध होकर बड़ी उत्कण्ठाके साथ इस संघर्षके परिणामपर दृष्टि लगाये है। (वि० त्रि०) (ङ) अनेक उपमेयोंका एक ही धर्म **'चढ़े'** कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार है। (वीर)]

३ *'राम बाहु बल सिंधु'''।'* बाहुबल अपार समुद्र है। बाहु समुद्र है, बल जल है, यथा—*'अमित अमल जल बल परिपूरन।'* (गी० ७। १३), *''सठ चाहत रघुपति बल देखा॥ जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद मति पावन चाहा॥'* (३। १), *'मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥'* (६। २८) *'अपारू'* कहकर जनाया कि पार चाहते हैं पर पार पायेंगे नहीं। (ख) *'नहिं कड़हारू।'* कर्णधार जहाजको चलाता है, उसकी रक्षा करता है। यहाँ कोई खेनेवाला नहीं है तब जहाज न तो चल ही सकेगा और न कोई उसकी रक्षा कर सकेगा, राम बाहुबलरूपी समुद्र उसे शीघ्र डुबा देगा, नष्ट कर डालेगा, रामबाहुबलसे कोई भी धनुषको बचानेवाला नहीं है। श्रीरामजी तुरत तोड़ डालेंगे क्षणभर भी न लगेगा। बिना रक्षकके ये सब चढ़े हैं, अतः सब जहाजके साथ डूब मरेंगे। बिना कर्णधारके जहाजपर जानेवाले अज्ञानी ही होते हैं वैसे ही ये संशय इत्यादि सब अज्ञान वर्गमें हैं ही, यथा—*'बूड़ सो सकल समाज चढ़ा जो प्रथमहि मोह बस।'* मोह और अज्ञान पर्याय शब्द हैं। [*'नहिं कोउ कड़हारू।'* भाव कि इस जहाजके खेवैया शिवजी थे सो इसे मिथिलामें छोड़ गये। अतः रामजीके हाथों टूटनेसे कोई इस बेचारेका बचानेवाला नहीं है। क्योंकि *'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* 'धनुषका न टूटना' पार जाना है।]

दो०—राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।
चितईं सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि॥ २६०॥
देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब लोगोंको देखा। सबको चित्रमें लिखे हुए-से देखकर कृपाधाम श्रीरामजीने सीताजीको देखा और बहुत व्याकुल जाना॥ २६०॥ वैदेहीजीको बहुत ही व्याकुल देखा (कि) उन्हें एक निमेष कल्पके समान बीत रहा है॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे।'* (२५९। ८) से प्रसङ्ग (सम्बन्ध) मिलाते हैं। श्रीसीताजीको देखकर धनुषको ताका, इससे श्रीसीताजीको धीरज दिया कि लो हम धनुष तोड़ते हैं। उसी तरह सब लोगोंकी ओर देखकर उन सबोंको भी धीरज दे रहे हैं क्योंकि ये सब भी व्याकुल हैं। (ख) *'चित्र लिखे से'* अर्थात् जैसे कागज, कपड़े, भीति इत्यादिपर हाथसे बनायी, काढ़ी वा उतारी हुई तसवीर हो। तात्पर्य कि वे हिलते-डोलते नहीं, एकटक देख रहे हैं। उनके पलक गिरते नहीं हैं, इत्यादि। (ग) श्रीसीताजीपर दृष्टि डालनेमें *'कृपायतन'* विशेषण देकर जनाया कि श्रीसीताजीको विशेष विकल देखकर अपनी कृपादृष्टिसे उनको जिलाये हुए हैं। पुनः कृपायतन विशेषण देनेका भाव कि सब लोगोंने तो रामजीके लिये अपने-अपने सुकृत लगाये हैं, यथा—*'बंदि पितर सुर सुकृत मनाए'''।'* और श्रीजानकीजीने प्रेम लगाया। श्रीरामचन्द्रजी सब सुकृतोंसे अधिक प्रेममें कृपा करते हैं, यथा—*'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम॥'* इसीसे सीताजीपर कृपादृष्टि करके बार-बार देखते हैं। (घ) *'जानी बिकल बिसेषि'* कहकर जनाया कि बिकल तो और

सब भी हैं पर ये विशेष विकल हैं। विशेष व्याकुलताका स्वरूप आगे दिखाते हैं—*'देखी बिपुल बिकल'* इत्यादि।

टिप्पणी—२ (क) *'देखी'* से सूचित होता है कि श्रीजानकीजीकी व्याकुलता प्रकट देख पड़ती है। जैसे रात्रिके कमल मलिन होते हैं वैसी दशा इनके मुखकी हो रही है, यथा—*'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥'* नेत्रोंमें जल भरा है, यथा—*'लोचन जल रह लोचन कोना'*, *'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर।'* (ख) *'निमिष बिहात'* इति। जब श्रीरामजी धनुष तोड़ने चले तब श्रीजानकीजीको एक निमिष सौ युगोंके समान बीतता था, यथा—*'अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥'* जब धनुषके समीप आये तब व्याकुलता अधिक हो गयी; यह दिखानेके लिये एक निमेषका कल्प समान बीतना कहा। **'कल्पं तु ब्रह्मवासरम्'।** **'चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पितामहः।'** ब्रह्माका एक दिन कल्प कहलाता है और हजार चतुर्युगोंका एक दिन होता है। (इस तरह लगभग ४० गुणा अधिक दुःख इस समय है। इसीसे *'बिपुल बिकल'* कहा।)

नोट—*'बैदेही'* शब्दसे जनाया कि व्याकुलता इतनी बढ़ गयी है कि देहकी सुध जाती रही। मुख सूख गया। आगे फिर *'जानकी'* नाम देकर जनाते हैं कि पूर्व तो विदेह दशा ही रही अब 'जानकी' खैरियत नहीं, प्राण छोड़ ही देंगी।

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करै का सुधा तड़ागा॥ २॥
का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥ ३॥

अर्थ—प्यासेने यदि जल बिना (जलके न मिलनेसे) शरीर छोड़ दिया तो उस मरे हुएको वा मर जानेपर 'सुधा-तड़ाग' ही क्या करेगा?॥ २॥ सब खेतीके सूख जानेपर वर्षा होनेसे क्या (लाभ)? अवसर चूक जानेपर फिर पछितानेसे क्या?॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'तृषित बारि…'* इति। (क) तात्पर्य कि जब समयपर जल न मिला तब बिना समय अमृत किस कामका? यथा—*'तुलसी मीठी अमी ते माँगी मिलै जो मीच। सुधा सुधाकर समय बिनु कालकूट ते नीच॥'* (दोहावली) सुधाकर (चन्द्रमा) का सुधा अर्थात् अमृत। जहाँ अमृतकी श्रेष्ठता कहते हैं वहाँ चन्द्रसार अमृत कहते हैं, यथा—*'सुनि भूपाल भरत ब्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू॥'* (२। २८८) *'जन रंजन भंजन भव भारू। रामसनेह सुधाकर सारू॥'* (२। ३२६) इत्यादि। तात्पर्य कि जब जानकीजी अत्यन्त विकलतासे मर जायेंगी तब धनुष तोड़नेसे क्या है? समयपर लोटा भर जल न मिला और बिना समय अमृतका तालाब मिले तो किस कामका? *'सुधा तड़ाग'* कहनेमें भाव यह है कि सुधा जलसे अधिक (उत्तम पदार्थ) है, लोटाभर जलसे अधिक तड़ाग है। जो प्यासा मर रहा है उसको समयपर जल मिल जाय तो अच्छा है और अमृत मिल जाय तो और भी उत्तम है। ऐसे ही धनुषका तिलभर भूमि भी छोड़ देना लोटाभर जलके समान है, इतनेमात्रसे जानकीजीके प्राण बच जायेंगे, क्योंकि पिताका वचन है कि *'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥'* (२२५। २) उठाना और तोड़ना अमृत (और अमृतके तड़ाग) के समान हैं, यह हो जाय तो और अच्छा है। श्रीजानकीजीके जीवित रहते तिलभर भूमि भी यदि न छूटी तो मरनेपर धनुषको उठाया और तोड़ा भी तो किस कामका? इत्यभिप्रायः। [बाबा हरीदासजीका मत है कि धनुष टूटनेपर त्रिभुवनमें जय-जयकार होना और ऐश्वर्य प्रकट होना *'सुधारूप'* है।]

* मुएँ करै का सुधा तड़ागा *

'सुधा' का अर्थ अमृत करनेपर महानुभावोंने यह शङ्का करके कि 'अमृतका गुण तो मरे हुए को जिलाना है, मरनेपर भी उसे व्यर्थ नहीं कह सकते', उसका समाधान कई प्रकारसे किया है—(१) कुछ लोगोंका कहना है कि इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये यहाँ *'सुधा'* का दूसरा अर्थ 'जल' ही गृहीत होगा। तात्पर्य कि मरनेपर 'जलका तालाब' वा 'तड़ागभर जल' भी मिले वा मरनेपर उसे जलभरे तालाबमें

ही डाल दें तो वह जी नहीं सकता। (२) संत उन्मनी टीकाकारने *'सुधा'* के और भी अर्थ 'पर्यन्त' एवं 'गङ्गा' किये हैं। वे लिखते हैं कि *'सुधा'* मागधी भाषामें 'पर्यन्त' अर्थका वाचक है अर्थात् थोड़े-से जलकी कौन कहे, तड़ागभरा जल भी हो तो क्या? वा 'सुधा'=गङ्गा, यथा—'**सुधा गङ्गेष्टिकास्त्रह्योर्मवालेपाऽमृतेषु च।**' अर्थात् गङ्गा या तालाब ही फिर किस कामका?'

प्रोफे० लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि *'सुधा'* का अर्थ 'जल' लेनेसे पुनरुक्ति दोष आ जाता है, दूसरे *'तड़ाग'* शब्दमें तो जलका बोध हो ही जाता है, *'सुधा'* शब्दकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः इसका अर्थ यों करना चाहिये कि शङ्करजी कहते हैं कि हे सुधा (पार्वतीजी)! मरनेपर तालाब-भर पानी क्या कर लेगा?' *'सुधा'* पार्वतीजीका नाम है—'**जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी। दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते॥**'—(परंतु आगेके *'अस जिय जानि जानकी देखी'* से ये श्रीरामजीके हृदयके विचार जान पड़ते हैं।) इसपर प्र० स्वामीका मत है कि 'जल' अर्थ उचित है। पुनरुक्तिकी शङ्का व्यर्थ है, क्योंकि तड़ाग बिना जलका भी होता है, यथा—*'नदी बिनु बारी।'* (२। ६५। ७)

पाँड़ेजी, वीरकविजी, पं० रामकुमारजी एवं श्रीमान् गौड़जीने *'सुधा'* का अर्थ 'अमृत' ही किया है। पं० रामकुमारजीके भाव ऊपर टिप्पणीमें दिये गये हैं। पाँड़ेजी ऊपर की हुई शङ्काके समाधानके लिये इस चरणका अर्थ यों करते हैं कि 'मुएको तालाब क्या करेगा, क्या अमृतका तालाब है जो जिला लेगा?' और वीरकविजी शङ्काका समाधान यों करते हैं कि 'अमृतका तालाब प्यासके दुःखसे मरे हुएको जिला देगा, परंतु प्यासके भीषण यन्त्रणासे तड़प-तड़पकर जो उसके प्राण निकले हैं उस पीड़ाको नहीं भुला सकता।' पाँड़ेजीने मुख्य अर्थ 'जलका तालाब' ही किया है।

श्रीमान् गौड़जी लिखते हैं कि 'यहाँ सीताजी धनुषभङ्गकी प्यासी हैं। इतनी छोटी बातके तुरन्त न हो जानेसे यदि अत्यन्त अधीरताके कारण अमङ्गल हो जाय, तो पीछे धनुषभङ्ग (साधारण जल तो क्या) सुधा-तड़ाग-(स्वयं सरकार-) का उनके समक्ष मौजूद हो जाना भी क्या करेगा? कोई पानीका प्यासा तो मर जाय पर उसके पास ही अमृतका तालाब भरा हो जो उसके शवतक स्वयं न पहुँच सके तो मुएको उस तड़ागका होनामात्र क्या लाभ पहुँचायेगा? जब सारी खेती सूख ही गयी, निष्प्राण हो गयी तो पानी बरसके उसे हरा न कर सकेगा, क्योंकि पानी रगोंमें पहुँच न सकेगा। अवसर चूक जानेपर पछताना ही हाथ लगता है। यहाँ सरकार मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। *'प्रभु चह त्रिभुवन मारि जिआई।'* परंतु इन्द्रके पूछनेपर ही जिलानेकी बड़ाई उसे दी जाती है। यहाँ अमङ्गल होनेपर *'सुधा समुद्र'* भी कुछ नहीं कर सकता। *'सुधा समुद्र'* भगवान्के रूपको अन्यत्र भी कहा है। [*'सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई॥'* (२४६। ५)] यहाँ अत्यन्तानुप्रासके लिये *'सुधा तड़ाग'* कहा। इसमें कोई दोष नहीं।

श्रीनंगे परमहंसजीने कुछ भेदसे प्रायः गौड़जीका ही मत ग्रहण किया है। 'जानकी प्यासी हैं, श्रीरामजीके हाथोंसे धनुष टूटनेकी आशा प्यास है—*'आस पियास मनोमल हारी।'* धनुष टूटनेका सुख जल है (यथा—*'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'*) और श्रीरामजी अमृतका तड़ाग हैं।' इतने अंशमें दोनोंका मत एक है। परंतु उपर्युक्त शङ्काके सम्बन्धमें वे लिखते हैं कि अमृतका गुण जिलानेका नहीं है, अमरत्व करनेका है—*'सुधा सराहिय अमरता'''* देहसे बाहर निकल गयी हुई आत्माको फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्माको तैयार करके उस देहमें प्रवेश करा देनेका गुण वा सामर्थ्य अमृतमें नहीं है।'''जिन्दा (जीते-जी) अमृतपान करनेसे शरीरमें आत्मा अमर हो जाता है, फिर शरीरसे नहीं निकलता।'''''लङ्कामें वानरोंके जिलानेमें इन्द्र या अमृतका कोई करामात होती तो राक्षस भी अवश्य जी उठते। वे तो रामजीकी इच्छाहीसे जिये, केवल इन्द्रको बड़ाई दी गयी। *'सुधा'* का 'जल' अर्थ करनेमें वे दो दोष बताते हैं—शब्द-दोष-विरोध और उपमा-विरोध। शब्द-विरोध लाला भगवानदीनजीके टिप्पणमें आ गया। 'उपमा-विरोध यह है कि जब सुधा-तड़ागका उपमेय करना पड़ेगा कि *'सुधा तड़ाग'* क्या है तब विरोध पड़ेगा।' [नोट—वीरकविजीने अर्थमें तो 'अमृतका तालाब' ही लिखा है पर टिप्पणीमें यह भी लिखा है—'दूसरे, सुधा अमृत और जल दोनोंको कहते हैं, यहाँ सुधा शब्दसे

जलका ग्रहण है, अमृतका नहीं। क्योंकि बिना जलके प्राण त्यागे हुएको सुधा-तड़ाग मिले तो क्या हो सकता है? *'बारि'* के संयोगसे *'सुधा'* शब्द एकमात्र जलकी अभिधा है।']

टिप्पणी—२ *'का बरषा सब कृषी सुखानें।…'* इति। (क) *'कृषी'* की उपमा देनेका भाव यह है कि खेती किसानका जीवन है। इसी प्रकार श्रीजानकीजी माता, पिता, परिवार और पुरजन सभीका जीवन हैं, यथा—*'परिवारु पुरजन मोहिं राजहिं प्रान प्रिय सिय जानिबी॥'* (३३६) तात्पर्य कि जानकीजीके बिना ये सब मर जायेंगे, ऐसा विचार रामजीने किया। (ख) *'समय चुकें पुनि का पछिताने'* इति। यह अपने लिये कहते हैं। अर्थात् यदि हम अवसरसे चूकेंगे तो हमें भी पीछे पछताना ही होगा। (ग) ☞ यहाँ तीन दृष्टान्त देनेका भाव कि जो दुःख श्रीजानकीजीको है वही श्रीजनकजी और सुनयनाजीको है, जैसा कि आगे सुखवर्णनके द्वारा स्पष्ट है। अब क्रमसे इन दृष्टान्तोंको लीजिये—*'तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा।'* *'बारि बिनु तृषित'* कौन है? चातकी। यथा—*'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥'* (२६३। ६) दूसरा दृष्टान्त है *'का बरषा सब कृषी सुखानें।'* *'कृषी'* कौन है? सखियोंसहित रानियाँ। यथा—*'सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥'* (२६३। ३) धान और खेती एक ही बात है। धनुषभङ्ग वर्षा है। तीसरा दृष्टान्त है *'समय चुकें पुनि का पछितानें।* समयपर चूकनेसे कौन पछताया? जनकजी। यथा—*'सिय कर सोच जनक पछितावा।'* *'जौं पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा॥'* (२। ८६) इस तरह यह स्पष्ट है कि यहाँ जिस प्रकारका दुःख दिखा रहे हैं, धनुषभङ्गपर उसीके अनुकूल सुख कहा गया है—

तृषित बारि बिनु।	*१ का बरषा सब कृषी सुखानें।*
जनु चातकी पाइ जल स्वाती।	*२ सूखत धान परा जनु पानी॥*

वि० त्रि०—भाव कि दशम दशा उपस्थित है, अब खेती सूखा ही चाहती है, यदि कुछ प्राण रहते भी वर्षा हो जाय तो फिर खेतीके लहलहा उठनेमें देर नहीं, अतः अब देर न होनी चाहिये। इस समय कुछ भी देर करनेसे सीताजीसे हाथ धोना ही पड़ेगा।

नोट—१ यहाँ प्रथम चित्रोत्तर अलङ्कार है। क्योंकि जिन शब्दोंमें प्रश्न किया जाता है वही शब्द उत्तरके भी हो जाते हैं। खेती सूखनेपर वर्षासे क्या? उत्तर—*'सब कृषी सुखानें।'* *'समय चुकें पुनि का…'* ? इसका उत्तर इन्हीं शब्दोंमें चूकना है। २—यहाँ *'सुखाना'* क्या है? जानकीजी वा श्रीरामजानकीका विवाह देखनेकी अभिलाषाका नष्ट हो जाना खेतीका सुखाना है, यथा—*'एहि लालसा मगन सब लोगू।'* श्रीजानकीजीके निष्प्राण हो जानेसे माता-पिता इत्यादि सभीकी आशा जाती रहेगी—यह मत नंगे परमहंसजीका है। ३—बाबा हरीदासजीके मतानुसार 'मानी राजाओंके चले जानेपर धनुषका तोड़ना *'समय चूकना'* है। जनकजी कह चुके हैं कि *'तजहु आस निज निज गृह जाहू।'* उनके आगे धनुष तोड़नेसे वे सब परशुरामसंवाद देखें-सुनेंगे।'

अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी॥ ४॥
गुरहि प्रनामु मनहि मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥ ५॥

अर्थ—ऐसा जीसे जानकर जानकीजीको देख और उनके विशेष प्रेमको 'लख' कर प्रभु पुलकित हो गये॥ ४॥ उन्होंने गुरुजीको मन-ही-मन प्रणाम किया और बहुत ही शीघ्रतासे धनुषको उठा लिया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'अस'* अर्थात् जैसा ऊपर कह आये हैं कि जानकीजी तृषितकी तरह मरने ही चाहती हैं, और कृषीके समान सूखनेहीवाली हैं। (ख) *'जानकी देखी'* इति। मञ्चसे उतरकर धनुष तोड़नेके लिये चलनेपर श्रीजानकीजीका बार-बार प्रेमसे श्रीरामजीको देखना पूर्व (*'तब रामहि बिलोकि बैदेही।'* (२५७। ४) से *'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना।'* (२५८। ७) तक) लिखा गया है, इसी तरह यहाँ दिखाते हैं कि रामजी भी सीताजीको बार-बार प्रेमसे देख रहे हैं; जैसे श्रीरामजीको देख श्रीजानकीजीके पुलकावली होती है' वैसे ही श्रीजानकीजीको देखकर श्रीरामजीके पुलकावली होती है। यह दोनोंका परस्पर प्रेम दिखाया, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को चरितार्थ किया।

दोनोंका मिलान

श्रीजानकीजी—	श्रीरामजी—
तब रामहि बिलोकि बैदेही	*१ सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे*
देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव	*२ चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि*
नीके निरखि नयन भरि सोभा	*३ देखी बिपुल बिकल बैदेही*
प्रभुहि चितै पुनि चितव महि	*४ अस जिय जानि जानकी देखी*
प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना	*५ प्रभु पुलके लखि प्रेम बिसेषी*
भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर	*६ प्रभु पुलके*

(ग) ***'पुलके लखि प्रीति बिसेषी।'*** बिसेषीका भाव कि प्रीति औरोंमें भी है पर इनमें सबसे विशेष है। भगवान् प्रेमहीके भूखे हैं, यथा—***'बलि पूजा चाहइ नहीं चाहै एक प्रीति।'*** इसीसे प्रेम देखकर पुलकित हुए। [यहाँ विरहासक्तिकी परिपूर्णता दिखलायी। श्रीकिशोरीजीका इस प्रसङ्गमें सात बार देखना वर्णन किया गया है और श्रीरामजीका चार ही बार। इससे भी ***'पुलके लखि प्रीति बिसेषी'*** कहा। यह भाव हमने प्र० सं० में लिखा था।]

टिप्पणी—२ (क) ***'गुरहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा'*** इति। यहाँतक तीन बार गुरुको प्रणाम किया। पूर्व दो (कायिक और वाचिक) प्रणाम हो चुके, अब यहाँ मनमें प्रणाम करनेसे मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रणाम हो गये। ***'सुनि गुरु बचन चरन सिर नावा'*** यह कायिक प्रणाम है जो गुरुकी आज्ञा होनेपर उठते समय किया था, फिर ***'गुरपद बंदि सहित अनुरागा'*** यह वाचिक प्रणाम है जो उठकर चलते समय किया था। **'वदि अभिवादनस्तुत्योः।'** 'वदि' धातु प्रणाम और स्तुतिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। यहाँ स्तुति अर्थका ग्रहण है। (***'राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा'*** भी साथ ही दूसरे चरणमें कहा है।) और ***'मनहि मन'*** यह तो मानसिक है ही। उठते समय, चलते समय और तोड़ते समय प्रणाम किया, मानो तीन बार मङ्गलाचरण करके तब धनुष उठाया। (मनमें प्रणाम किया क्योंकि गुरु दूर हैं, मंचपर हैं और ये धनुषके पास हैं। वि० त्रि० का मत है कि कौशल दिखानेके पूर्व उस गुरुको प्रणाम करना चाहिये। जिससे कौशलकी प्राप्ति हुई है और ऐसे समयमें मनसे ही प्रणाम सम्भव है।) (ख) ***'अति लाघव उठाइ'''*** इति। भाव कि जिस धनुषको बड़ा भारी परिश्रम करनेपर भी वीर राजा लोग न उठा सके—***'उठै न कोटि भाँति बल करहीं'***—उसके उठानेमें श्रीरामजीको कुछ भी श्रम न हुआ। ***'अति लाघव'*** कहकर बलकी अनन्तता दिखायी। पुनः, ***'अति लाघव'*** का भाव कि इतनी शीघ्रता हुई कि कोई लख न सका। ***'लाघव'*** में लोग लख सकते हैं, अति लाघवमें नहीं लख सकते। यथा—***'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरमु न कोऊ जान॥'*** यह लाघवता है और यहाँ तो ***'काहू न लखा देख सबु ठाढ़े।'*** अति लाघवता वीरोंका काम है। वीरोंका काम धीरे-धीरे बहुत देरमें नहीं होता, यथा—***'लछिमन अति लाघवः सो नाक कान बिनु कीन्हि।'*** (३। १७) (उठानेमें ऐसी फुर्ती की कि जो लोग चित्र लिखे-से हो रहे थे वे भी न देख पाये। वि० त्रि०) (ग) मन-ही-मन बोलचाल है अर्थात् मनमें ही।

नोट—बाबा हरीदासजी मनमें प्रणाम करनेके हेतु यह लिखते हैं कि 'एक तो गुरुजी पीछे हैं। पीछे फिरकर प्रणाम करें तो जानकीजी यह न समझें कि लौटे जाते हैं, जिससे कहीं विरहमें प्राण न छोड़ दें। सिर नवाकर यदि प्रणाम करें तो दूसरे लोग समझेंगे कि किसी इष्टदेवके बलसे धनुष तोड़ा है।' बैजनाथजीका मत है कि श्रीकिशोरीजीको अत्यन्त आर्त देख धनुष तोड़नेके लिये इतनी आतुरता आ गयी कि गुरुको प्रकटरूपसे प्रणाम करनेका अवकाश न मिला, इससे मानसिक प्रणाम कर लिया। पंजाबीजीका मत है कि प्रणाम पूर्व कर चुके ही हैं, अब मनमें ही कर लिया। अथवा यह सोचकर कि सब लोग बहुत व्याकुल हैं, मैं प्रणाम करने लगूँ इतनेहीमें कतिपय लोग प्राण न त्याग दें।

टिप्पणी—३ ***'उठाइ धनु लीन्हा'*** इति। बंदीगणने धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा सुनायी थी, यथा—***'सोइ पुरारि***

कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जेहि तोरा॥' और राजा जनकजीने उठाना, चढ़ाना और तोड़ना ये तीन बातें कहीं, यथा—*'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भर भूमि न सकै छुड़ाई॥'* श्रीरामजी तीनों कर दिखायेंगे। इसीसे प्रथम उन्होंने उठा लिया और अब चढ़ाकर तोड़ेंगे। नहीं तो यदि केवल तोड़नेकी ही बात होती तो उठानेकी जरूरत ही न थी, वे उसे जमीनहीपर तिनकेके समान तोड़ देते।

दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयेऊ॥ ६॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सबु ठाढ़े॥ ७॥

अर्थ—जब उठा लिया तब वह बिजली-जैसा चमका। फिर वह धनुष आकाशमें मण्डलके समान हो गया अर्थात् चढ़ानेसे गोल हो गया॥ ६॥ उसे लेते (अर्थात् झुककर उठाते), चढ़ाते (अर्थात् प्रत्यञ्चा चढ़ाते) और दृढ़तापूर्वक (कानपर्यन्त प्रत्यञ्चाको) खींचते किसीने न लख पाया (कि कब उठाया, कब चढ़ाया, कब खींचा), सबने (रामजीको) खड़े (ही) देखा॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'दमकेउ दामिनि जिमि'* इति। धनुषमें तेज था, इसीसे वह बिजलीकी तरह चमका। धनुषके तेजसे ही यह दमक हुई है। यह मेघोंवाली बिजली नहीं है, यह स्पष्ट करनेके लिये *'जिमि'* पद दिया। नहीं तो सन्देह होता कि मेघोंकी बिजली आकाशसे न चमकी हो। पुनः *'दामिनि जिमि'* का भाव कि उठाते ही बिजलीकी-सी चमक हुई, वह चमक बिजलीकी तरह देरतक न रही, उठा लेनेके पश्चात् फिर चमक न रह गयी। *'अति'* लाघवतासे धनुषको उठाया, इसीसे अतिशीघ्र बिजलीकी-सी चमक हुई।— यह तो उठानेपरका हाल कहा, आगे चढ़ानेपरका हाल कहते हैं। (अत्यन्त फुरतीकी प्रक्रियामें एक रेखा-सी बन जाती है। जैसे बनेठीकी आगकी रेखा बन जाती है, उसी भाँति बिजलीकी रेखा-सी बन गयी। उठाते किसीने न देखा, यह देखा कि बिजली-सा कुछ चमका।' (वि० त्रि०) (ख) *'पुनि नभ धनु मंडल सम भयेऊ'* वह धनुष मण्डलाकार हो गया अर्थात् उसके दोनों गोशे मिल गये। *'नभ'* शब्द देकर जनाया कि श्रीरघुनाथजीने भुजा उठाकर धनुषको ताना, इसीसे वह आकाशमें मण्डलके समान हो गया। सिरसे ऊपर हाथसे उठाये और ताने खड़े होनेसे आकाशमें मण्डल-सा हो गया।

टिप्पणी—२ *'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े'* इति। यहाँ (झुककर उठाना, चढ़ाना और तोड़ना तीनोंको क्रमसे कहते हैं। *'लेत'* से उठाना, *'चढ़ावत'* से चढ़ाना और *'खैंचत गाढ़े'* से तोड़ना कहा। जब जोरसे खींचा तब वह टूट गया।

प्रथम जो कहा था कि *'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा'* अब उसका स्वरूप दिखाते हैं कि *'काहु न लखा…'* इतनी शीघ्रता की कि कोई न लख पाया। पहले उठानेमें ही अति लाघवता कही थी और अब उठाने, चढ़ाने और खींचने तीनोंहीमें 'अति लाघवता' दिखा रहे हैं। यदि सबके साथ लाघवता न कहते तो पाया जाता कि चढ़ाने और तोड़नेमें विलम्ब हुआ।

टिप्पणी—३ (क) पूर्व कह आये हैं कि लोगोंके बैठकर देखनेके लिये स्थान बने हुए हैं, यथा—*'चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥ कछुक ऊँच सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥ जहँ बैठे देखहिं सब नारी।'* इत्यादि। सेवकोंने सबको उचित स्थानपर बिठाया भी, यथा—*'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि…।'* तब *'देख सब ठाढ़'* सब खड़े होकर देख रहे हैं, यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि *'ठाढ़े'* श्रीरामजीके लिये कहा गया, सब लोग तो बैठे-ही-बैठे देख रहे हैं, श्रीरामजी खड़े हैं। सबने देखा कि रामजी खड़े हैं। ☞ यहाँ उत्तरोत्तर चौपाईको स्पष्ट करते आ रहे हैं। *'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा'* कहकर फिर इसको *'दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ'* से स्पष्ट किया अर्थात् जब उठाया तब बिजली-समान चमका। इसी तरह *'पुनि नभ धनु मंडल सम भयेऊ'* कहकर उसको आगेकी अर्धाली *'लेत चढ़ावत…'* से स्पष्ट किया अर्थात् जब चढ़ाया और खींचा तब मंडल-सम हो गया। *'खैंचत गाढ़े'* को आगे स्पष्ट करते हैं—*'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा'*। श्रीरामजीने अत्यन्त शीघ्रता की, इसीसे *'लेत चढ़ावत खैंचत'*

किसीने न लखा। दूसरे बिजलीसे दमक होनेसे चकाचौंध हो गयी, सबकी आँखें बन्द हो गयीं, इतनेहीमें सब काम हो गया, इससे भी किसीने न लख पाया।

नोट—१ *'लेत चढ़ावत…'* में लाघवताकी अतिशयोक्ति है। यहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार है। *'गाढ़े'* क्रियाविशेषण है, इसका अर्थ है—जोरसे। प्रत्यञ्चा चढ़ानेके बाद उसे कानपर्यन्त खींचना ही गाढ़े खींचना है।—(दीनजी) पुनः यहाँ 'कारकदीपक अलंकार है, क्योंकि लेत, चढ़ावत, खैंचत तीन क्रियाएँ क्रमसे आयी हैं जिनके कर्ता एक रामजी ही हैं।

नोट—२ *'दमकेउ दामिनि जिमि…'* इति। यहाँ कृषि भी है, वर्षाकी भी चर्चा है, दामिनी भी दमक गयी है, धनुष भी 'नभमंडलसम' दीख रहा है। व्याजसे उपमान 'घनश्याम' का नाम लेकर केवल उपमेय भगवान् रामचन्द्रकी ओर प्रसंगसे इशारा है, क्योंकि आगे चलकर चातकी भी तृप्त होगी और सूखते धानमें पानी भी पड़ेगा।

नोट—३ (क) किसी कविने *'खैंचत गाढ़े'* पर यह कवित्त लिखा है—*'कोसलके राज जब हाथमें पिनाक लीन्हों तोरबेकी बार सोच कीन्हें बात चार की। जो मैं धन्वा तोरौं नाहीं कुलहु कलंक लागे तोरौं तो कहेंगे लोग लोभ कीन्हों नारिको। जनक जो प्रण कीन्हों वह प्रण राखे बने चौथे सोच मोहि है दसानन सुरारिको। या ही जानि कृपानिधि खैंचे हैं करेरे हाथ कोसलके राज धन्वा तोरे त्रिपुरारिको।'* और किसीने यह अर्थ किया है कि 'लेते, चढ़ाते, खींचते समय जो महाराजकी शक्ति (गाढ़) हुई कि सीताजीके मनको आकर्षित किया वा सीताजीके मनके साथ आकर्षण किया, राजाओंके मुखोंके साथ नवाया, विश्वामित्रके पुलकके साथ उठाया, परशुरामके बड़े अहंकारयुक्त मदके साथ तोड़ा…सो कोई न लख सका।

(ख) मिलान कीजिये—*'गहि करतल, मुनि-पुलक सहित, कौतुकहि, उठाइ लियो। नृपगन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि जियो॥ ६॥ आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो-जनक, हियो। भंज्यो भृगुपति-गरब सहित, तिहुँ लोक-बिमोह कियो॥'* (गीता० १। ९०) (यह हनु० ना० १। २३ का ही अनुवाद है) यथा—**'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समा स्फालितम्। वैदेहीमनसा समं च सहसाकृष्टं ततो भार्गवप्रौढाहंकृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः॥'**

☞ नोट—४, *'लेत चढ़ावत…'* इस अर्धालीके अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे महानुभावोंने किये हैं, जिनमेंसे कुछ यहाँ लिखे जाते हैं।

(१) कठिनाईसे उठाते, चढ़ाते, खींचते किसीने न लखा, सब खड़े देखते ही रहे।' तात्पर्य कि सब खड़े देखते रहे किसीने भी यह न देखा कि श्रीरामजीको इसमें कुछ भी कठिनाई हुई। अर्थात् उनको कुछ भी परिश्रम इस काममें न हुआ, यदि परिश्रम हुआ होता तो सबको जान पड़ता।

(२) (श्रीनंगे परमहंसजी *'सब गाढ़े ठाढ़े देख'* इस प्रकार अन्वय करके अर्थ करते हैं कि) 'श्रीरामजी धनुषको लेते, चढ़ाते और खींचते किसीको दिखायी न पड़े। सबोंने श्रीरामजीको गाढ़े अर्थात् मजबूतीसे खड़ा देखा।' तात्पर्य कि इतनी शीघ्रतासे ये तीनों काम हुए कि किसीकी निगाह काम ही न कर सकी। 'पश्चात् धनुषको लिये हुए खड़े दिखानेका प्रयोजन था, इसीसे तोड़नेमें लाघवता नहीं की गयी। कारण कि लोगोंको शंका न हो जाय कि कैसे टूटा है। हाथमें उठाया हुआ भी न देख पड़ा, इसलिये अपनेको ऊपर उठाते हुए ऐसे खड़े सबको दिखायी दिये कि जिससे कोई भार भी नहीं प्रतीत होता अर्थात् शरीर-कम्पादि न होकर गाढ़े खड़े हैं—इसे स्पष्ट करके तब धनुष तोड़ा गया है।'

(३) लेते, चढ़ाते, खींचते 'किसीने दृढ़ करके (दृढ़तापूर्वक, भली प्रकार) नहीं लखा। **'गाढबाढदृढानि च'** इति। (अमरकोष)—(पाँड़ेजी)।

(४) सबने (रामजीको धनुष खींचे) खड़े देखा। ☞ अर्थ ३ और ४ के समर्थनमें यह कहा जाता है कि यदि खींचनेमें परिश्रम पड़ना वा जोर लगाना कहें तो यह ठीक नहीं और न यह कहना ठीक

है कि सब खड़े देखते रहे, क्योंकि यहाँ खड़े होना कहा तो आगे उनका बैठ जाना भी कहना चाहिये था सो-तो कहीं कहा नहीं गया। टिप्पणीमें भी 'खड़े होने' के सम्बन्धमें लिखा जा चुका है।

श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि 'यदि यह माना जाय कि लोगोंने बिजलीकी चमक-सी देखी और फिर देखा कि श्रीरघुनाथजी खड़े हैं और धनुष टूटा हुआ है तो यह कहा जा सकता है कि प्रभुने मायाके बलसे तोड़ा, अपने बाहुबलसे नहीं। फिर ऐसा माननेसे आगेकी चौपाई *'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा'* काल-कर्मके विरुद्ध हो जाती है तब तो क्रम यों होना चाहिये था—*'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि धनु नभमंडल सम भयेऊ॥ तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देखि सब ठाढ़े॥'* मानसकारके निश्चित क्रमसे ही स्पष्ट है कि ठाढ़े यहाँ देखनेवालोंकी क्रिया है। गाढ़े लेत, गाढ़े चढ़ावत, गाढ़े खैंचत (तो) काहू न लखा (यद्यपि) सब ठाढ़े देखते रहे। 'हाँ *'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा'* और *'तोरा'* यह सबने देखा।'—(आपके मतानुसार सबने यह देखा कि सब काम अत्यन्त फुर्तीसे हो गया, पर लेते, चढ़ाते, खींचते न देखा।)

नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि लोग खड़े देखते रहे, यह अर्थ महान् अनर्थ है। 'यदि सब खड़े हो जावें तो कैसा हुल्लड़ हो जावे। सबमें नारियोंको भी खड़ा कर देना कैसा अयोग्य है और फिर ये लोग कब बैठे?'

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि *'देख सब ठाढ़े'* में नाटकीय चित्रण विचारणीय है। ऐसे अवसरपर लोगोंकी उत्कण्ठा और उतावलेपनके भाववेगमें खड़े हो जाना कितना स्वाभाविक है? भाई! कवि भी तो भाववेगमें हमारे साथ हैं। उसे सब खड़े ही दीखते हैं, चाहे कुछ लोग बैठे ही क्यों न रहे हों। मुहावरेमें भी बहुतायतमें 'सब' कह देते हैं। फिर मुहावरेमें बहुत हिन्दीकी चिन्दी न निकालना चाहिये। 'खड़े वा ठाढ़े देखते रहे' मुहावरा है।

वि० त्रि० का मत है कि *'गाढ़'* का अर्थ 'पण्डिताईसे' है, यथा—*'कबहुँ न मिले सुभट रन गाढ़े।' 'बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े'।* **देख सबु ठाढ़े**=सब देखते हैं कि रामजी खड़े हैं।

नोट—५ *'खैंचत गाढ़े'*—वाल्मी० २। ११८। ४८-४९ में सीताजीने अनुसूयाजीसे कहा है कि पलक मारते ही श्रीरामजीने उसे उठा लिया और रोदा चढ़ा दिया, तदनन्तर उसे खींचा। बलपूर्वक खींचनेके कारण वह दो टुकड़े हो गया। यथा—'**निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः। ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान्॥ ४८॥ तेन पूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः।**'

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'धनुषको हाथमें ले रोदा चढ़ाना, दोनों गोशे मिलाकर खींचकर नभमण्डल-सम करना और तोड़ना ये चारों बातें गाढ़ (कठिन) हैं; इनमेंसे एक भी काम किसी वीरसे न हो सका, सो श्रीरामजीने बिना कठिनाई अति शीघ्रतासे कर दिया। इनसे कैसे उठेगा यह आश्चर्य मान सब खड़े रहे। *'देख सबु ठाढ़े'* अर्थात् सब चौकस रहे, कोई गाफिल न था।'

तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा॥ ८॥

छं०—भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले॥

शब्दार्थ—**छन** (क्षण)=तीन निमेष। यथा—'**निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः।**' (भा० ३। ११। ७)

अर्थ—श्रीरामजीने उसी क्षणमें धनुषको बीचसे तोड़ डाला। उसके भयंकर कठोर शब्दसे भुवन भर गये॥ ८॥ घोर कठोर शब्दसे सब लोक भर गये। सूर्यके घोड़े अपना मार्ग छोड़कर चल पड़े। दिशाओंके हाथी चिग्घाड़ने लगे, पृथ्वी हिलने-डोलने लगी, शेष, वाराह और कच्छप कुलबुला उठे।

टिप्पणी—१ (क) '**तेहि छन**'=जिस क्षणमें उठाया, चढ़ाया और खींचा उसी क्षणमें (अर्थात् उस क्षणके समाप्तिके भीतर ही तोड़ डाला)। (ख) *'मध्य धनु तोरा'* कहनेका भाव कि धनुषका मध्यभाग अत्यन्त दृढ़ होता है; अतएव वहींसे तोड़ा जिसमें किसीको कुछ कहनेकी गुंजाइश (जगह) न रहे। (ग)

'भरे' बहुवचन क्रियाके सम्बन्धसे भुवनका अर्थ चौदहों भुवन हुआ। (घ) *'घोर'* अर्थात् भयंकर है, मनको भय देनेवाला था। भय होना मनका धर्म है। *'कठोर'* होनेसे श्रवणको दुःख देनेवाला जनाया। जैसे मधुर शब्द मन और श्रवणको सुखद होता है, यथा—*'मधुर बचन बोलेउ हनुमाना।' 'लागी सुनै श्रवन मन लाई।'* (५। १३) *'बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥'* (७। ५३) वैसे ही कठोर शब्दसे मन और श्रवणको दुःख होता है, यथा—*'भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि बोली बैन।'* (२। १५९) इत्यादि। (ङ) मिलान कीजिये—*'पिय सियकी लखि माधुरी तून तोरन की चाह। झुके लेन तून धनु मिलेउ तोरेउ सहित उछाह॥'* पुनः, *'डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र-सर। ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥ दिग्गयंद लरखरत परत दसकंधु मुक्ख भर। सुर-बिमान हिम-भानु भानु संघटत परसपर॥ चौंके बिरंचि संकर सहित, कोलु कमठु अहि कलमल्यौ। ब्रह्मंड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥'* (क० १। ११)

टिप्पणी—२ (क) चौदहों भुवन ध्वनिसे भर गये। अब इन सबोंका हाल कहते हैं। चौदहों भुवन तीन लोकोंके भीतर हैं, इसीसे तीनों लोकोंकी बात कहते हैं। *'रबि बाजि''''* यह स्वर्गका, *'चिक्करहिं दिग्गज''कलमले'* यह पातालका और *'सुर असुर मुनिनिकर कान दीन्हे सकल''''* यह मर्त्यलोकका हाल है। ब्रह्माण्डभरमें शब्द व्याप्त हो जानेसे समस्त पशु-पक्षी, सुर, असुर, नर, मुनि सभी क्षोभको प्राप्त हुए। सूर्यके घोड़े उपलक्षण हैं। सूर्य नवग्रहोंमें आदि हैं। सूर्यकी गतिमें क्षोभ दिखाकर सूचित किया कि सब ग्रहोंकी गति क्षोभको प्राप्त हुई; क्योंकि सब ग्रह रथमें चलते हैं (सबोंके रथ और वाहन हैं), सबके घोड़े मार्ग तज-तजकर चले अर्थात् मार्गसे विचलित हो गये। दिव्य घोड़ोंका हाल कहकर आगे दिव्य हाथियोंका हाल कहते हैं। (ख) *'चिक्करहिं''''* इति। स्वर्गका हाल कहर अब पातालका हाल कहते हैं। पृथ्वीपर जब कोई भारी धक्का होता है तब पहले हाथियोंपर जोर पड़ता है, इसीसे प्रथम हाथियोंका चिग्घाड़ना कहा करते हैं, यथा—*'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।'* (५। ३। ५) *'ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे', चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे।'* (६। ९०) तथा यहाँ *'चिक्करहिं दिग्गज''''*। (ग) श्रीलक्ष्मणजीने जिनको पृथ्वीको धारण करनेकी आज्ञा दी थी, उन्हींकी दशा यहाँ लिखते हैं। आज्ञा दी थी कि पृथ्वी न डोले सो पृथ्वी डोल गयी। धीरज धरनेकी आज्ञा दी थी सो धीरज न रह गया, सब विकल हो गये। इससे जनाया कि बड़ा भारी असह्य जोर पड़ा।

नोट—१ *'घोर'* से ऊँचा और भयावन जनाया और *'कठोर'* से कड़ा। घोर और कठोर होनेसे स्वर्गतक ऊपर और कच्छपतक नीचे शब्द पहुँचा। कैसा घोर कठोर था यह *'चिक्करहिं दिग्गज''''* से दिखाया (पाँड़ेजी)। पुनः, *'घोर'* से गम्भीर कहा और *'कठोर'* से असह्य कहा। (वि० त्रि०)

नोट—२ मिलान कीजिये, यथा—**'पृथ्वी याति विनम्रतां फणिपतेर्नम्रं फणामण्डलं बिभ्रत्क्षुभ्यति कूर्मराजसहिता दिक्कुञ्जराः कातराः। आतन्वन्ति च बृंहितं दिशि भटैः सार्धं धराधारिणो वेपन्ते रघुपुङ्गवे पुरजितः सज्जं धनुः कुर्वति॥'** (हनुमन्नाटक अंक १ श्लोक २२) अर्थात् पृथ्वी डगमगा गयी, शेषके फणोंका समूह झुका और क्षुब्ध हो गया अर्थात् वे तड़फड़ाने लगे, कूर्मराज और दिग्गज डरकर शब्द करने लगे, पृथ्वीके धारण करनेवाले पर्वतादि काँपने लगे।

नोट—३ *'घोर कठोर रव'* का वर्णन हनु० नाटकमें इस प्रकार है—**'त्रुट्यद्भीमधनुःकठोरनिनदस्तत्राकरोद्विस्मयं त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शम्भोः शिरःकम्पनम्। दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेलनं वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम्॥ रुन्धन्नष्टविधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशाः क्रोडयन् मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः। तान्यक्ष्णा बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादयन्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्बलदलत्कोदण्ड-कोलाहलः॥'** (२७) अर्थात् टूटते समय कठोर शब्दने यह एक विस्मय किया कि उसने घबड़ाये हुए घोड़ेवाले सूर्यके अमार्गगमनको, शिवजीके शिरोंके कम्पको, दिग्गजोंके स्थानत्यागको, महेन्द्रादि सप्तपर्वतोंके हिलानेको, सातों समुद्रोंको मिलानेको, मदान्ध प्राणियोंके नाशको और त्रिलोकीके मोहको किया॥ २६॥ ब्रह्माके आठ

कानोंको रोकता हुआ, आठों दिशाओंको शब्दायमान करता हुआ, महादेवकी (**भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशी रविः**) अष्ट मूर्तियोंको व्याकुल करता हुआ और आठों पर्वतोंको तोड़ता हुआ और आठों सर्पोंके कुलोंको बहिरा करता हुआ ऐसा श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंके बलसे तोड़े हुए धनुषका कोलाहल भयानक प्रकट हुआ।' —(व्रजरत्न भट्टाचार्यजीकी टीकासे) ये सब भाव उपर्युक्त चौपाई और छन्दमें आ जाते हैं। २—*'रबि बाजि तजि मारग चले।''सकल बिकल'* के सम्बन्धसे धनुष टूटनेके शब्दकी अतिशय भीषणताकी बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार' है—(वीर)।

सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥
सो०—संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहि मोहबस॥ २६१॥

अर्थ—सुर, असुर और मुनि कानोंमें हाथ दिये (लगाये) हुए सब-के-सब व्याकुल हो विचारने लगे कि (जान पड़ता है कि) रामचन्द्रजीने धनुष तोड़ा है। तुलसीदास (कहते हैं कि विचार निश्चय करते ही सभी) जय-जयकार करने लगे (श्रीरामजीकी जय हो, जय हो ऐसे वचन उच्चारण करने लगे)। शंकर-धनुषरूपी जहाज और सारा समाज जो उसपर प्रथम ही अज्ञानवश चढ़ा था रघुवरबाहुबलरूपी समुद्रमें डूब गया॥ २६१॥

टिप्पणी—१ (क) सुर, असुर, मुनि सभी रंगभूमिमें आये हुए हैं, यथा—*'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥'* ये सब रंगभूमिमें हैं, बहुत निकट हैं, इससे शब्द बिलकुल कानके पास होनेसे सह न सके, व्याकुल हो गये। सुना नहीं जाता, इसीसे कान हाथोंसे बन्द कर लिये। (ख) *'सकल बिकल''*, सब व्याकुल हो गये; इसीसे इस बातका ज्ञान न रह गया कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है। यथा—*'प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भए बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा॥'* (३। १८) इसीसे सब विचार करते हैं कि बिजली चमकी, घोर शब्द हुआ, कहीं वज्रपात तो नहीं हुआ? फिर सोचे कि वज्रपात नहीं है क्योंकि आकाश निर्मल है, मेघ नहीं हैं। पुनः विचार किया कि पृथ्वी हिली है, भूकम्प हुआ है, कहीं पहाड़ आदि तो नहीं गिरे जिससे शब्द हुआ? इत्यादि विचार करते हुए सोचे कि पहाड़ आदिके गिरनेसे भी ऐसा घोर कठोर शब्द नहीं हो सकता; श्रीरामचन्द्रजी धनुष उठाने गये थे, अवश्य ही उन्होंने उसे तोड़ा है उसीसे यह सब उत्पात हुआ। बिना धनुष टूटे ऐसा घोर कठोर शब्द नहीं हो सकता *'बिचारहीं'* से जनाया कि सभी ऐसे व्याकुल थे कि विचार करनेपर धनुषका टूटना जान पाये। अनेक उपमेयोंका एक धर्म 'विकलता' कथनमें 'प्रथम तुल्योगिता' अलङ्कार है। [सुर, असुर और मुनि जो उस शब्दके स्पन्दन ग्रहण करनेमें समर्थ थे, वे भी शब्दकी कठोरता न सह सके, विकल हो गये, अपने कानोंको मूँद लिया। (वि० त्रि०)]

प० प० प्र०—*'जयति बचन उचारहीं'* का थोड़ा-सा नमूना देखिये—*'जय जय रघुबर जन भयभंजन। जय रघुबीर शंभु धनुभंजन॥ जय रघुबीर भूपमदमर्दन। विश्वविजय यश जानकि अर्जन॥ जनक भूप परितापहरण जय। नगर नारि नर सुखद जयति जय॥ कोसलपति जय दशरथनंदन। जय जय कौशिक मुनि मन रंजन॥ नीरज नील सुकोमल जय जय। रामचंद्र जय सीतापति जय॥ जय जय लोक बिलोचन सुखकर। जय जय मोह बिभंजन भवहर॥ बाल बृद्ध नरनारि चित्तहर। प्रज्ञा प्रेरक जय जय रघुबर।'* (गूढ़ार्थचन्द्रिकासे)

टिप्पणी—२ (क) *'कोदंड खंडेउ राम'''''''* इति। जब शब्दकी प्रबलता निवृत्त हुई तब विचार आया कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है। इसीसे भारी शब्द हुआ है। विचार करनेपर धनुषका तोड़ना निश्चय हुआ, क्योंकि उसका उठाना, चढ़ाना, खींचना कुछ भी आँखोंसे नहीं देखा है। (ख) *'जयति बचन उचारहीं।'* श्रीरामजीने बड़े उत्कर्षका काम किया, इसीसे जय-जयकार करके जनाया कि 'सबसे उत्कर्ष बर्तो अर्थात्

सबसे ऊँचे बने रहो' यही 'जय' शब्दका अर्थ है। (ग) असुर तो श्रीरामजीके शत्रु हैं, उन्होंने जय कैसे बोली? इसका उत्तर यह है कि वीरकी वीरता देखकर वीर प्रसन्न होकर जय बोलते हैं। यथा—'*संभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो। महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो॥*' यहाँ देवता रावणकी जय बोलते हैं, जो देवताओंका शत्रु है। (घ) ☞'*तुलसी जयति*…' इति। देखिये कैसे मौकेसे ग्रन्थकार भी जय बोलनेमें शामिल हो गये।

टिप्पणी—३ '*संकर चापु जहाजु*…' इति। (क) चाप और जहाजका रूपक प्रथम ही कह आये, वहीं उसके सब अङ्ग वर्णन कर आये, इसीसे यहाँ पुनः विस्तार नहीं किया। डूबना कथन करना बाकी रह गया था, क्योंकि तब डूबा तो था नहीं अब जब डूबा तब उसे कहा। (ख) '*संकर*' का भाव कि शंकरजी सबके कल्याणकर्ता हैं, उनका यह धनुष है; इसने भी सबका कल्याण किया। सबके संशय, सोच, अज्ञान इत्यादिको हर लिया, अब श्रीरामजानकीजीका विवाह होगा जिससे सबका कल्याण है— जनकपुरवासियोंका, अवधवासियोंका, देवताओंका, राक्षसोंका और सारी सृष्टिका। और स्वयं रघुवरबाहुबलसागरमें डूबा, इससे अपना भी कल्याण किया। यथा—'**तद् ब्रह्ममातृवधपातकिमन्मथारिक्षत्रान्तकारिकरसंगमपापभीत्या। ऐशं धनुर्निजपुरश्चरणाय नूनं देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे॥**'(हनु० ना० १। २५) अर्थात् शिवजीके इस धनुषने ब्रह्माका सिर काटा (जब वे मृगरूप होकर मृगिनी सरस्वतीके पीछे दौड़े थे), परशुरामद्वारा माताका सिर काटा, अतः वह पातकी हो गया। शिवजी तथा परशुरामके हाथके संगरूपी पापके भयसे प्रायश्चित्त करनेके लिये ही उसने श्रीरामचन्द्रजीके कररूपी तीर्थमें अपना शरीर त्याग दिया। (ग) '*रघुबर बाहु बलु*' को सागर कहनेका भाव कि सागरसे सागर है, ऐसे ही रघुवरबाहुसे बलसागर है। (घ) '*सो*' अर्थात् जो पूर्व कह आये हैं—'*सब कर संसय अरु अग्यानू*' इत्यादि। (ङ) '*मोह बस*' कहनेका भाव कि संशयादि सब मोहहीसे होते हैं। संशय आदि सब धनुषके सम्बन्धसे हैं, यही धनुषपर चढ़ना है। जहाजका रूपक किया, इसीसे उसपर चढ़ना कहा।

श्रीराजारामशरणजी—१ यहाँका ओजगुण विचारणीय है। और शब्दगुण (Symphony) भी। २—कहावत है कि '*बूड़ा सकल समाज*' लिखनेके बाद कविकी लेखनी रुक गयी, कारण कि उसने सोचा कि रामजी भी तो उसी समाजमें हैं वे भी डूबे जाते हैं। तब हनुमान्‌जीने कहा कि जोड़ दो '*चढ़ा जो प्रथमहि मोहबस*' और '*चढ़े जाइ*' वाला रूपक लिख ही रहे हो, प्रसंग ठीक हो जायगा। [यह किंवदन्ती बहुधा सुननेमें आयी पर यह गढ़न्त '*बूड़ा सकल समाज*' पाठसे की हुई जान पड़ती है। पाठ है '*बूड़ सो सकल समाजु*'। ☞'*सो*' का इशारा स्वयं ही इस गढ़न्तके खण्डनको पर्याप्त है। कवि तो पूर्वसे ही रूपक बाँधते आ रहे हैं, उनकी लेखनी कब रुक सकती थी?]

प्रभु दोउ चाप खंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥ १॥
कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन॥ २॥
रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥ ३॥

अर्थ—प्रभुने धनुषके दोनों टुकड़े पृथ्वीपर डाल दिये। सब लोग देखकर सुखी हुए॥ १॥ श्रीरामरूप पूर्णचन्द्रको देखकर अगाध सुन्दर प्रेमरूपी जलसे भरे हुए विश्वामित्ररूपी पवित्र समुद्रमें भारी पुलकावलीरूपी लहरें बढ़ने लगीं॥ २-३॥

टिप्पणी—१ (क) '*प्रभु दोउ चाप खंड*' का सम्बन्ध '*तेहि छन राम मध्य धनु तोरा*' से है। '*दोउ*' से जनाया कि जब बीचसे तोड़ा तब दो ही खण्ड हुए, उन दोनोंको पृथ्वीपर डाल दिया। (किसी-किसी टीकाकारने तीन टुकड़े होना लिखा है। दो नीचे डाल दिये एक हाथमें लिये रहे, पर '*दोउ*' शब्द उस भावका निषेध कर रहा है।) (ख) '*देखि लोग*' से सूचित किया कि लेते, चढ़ाते और खींचते तो किसीने न देखा पर जमीनपर डालते सबने देखा। सबको दिखाकर जमीनपर डालनेमें भाव यह है कि यदि पृथ्वीपर डालते न देखते तो कोई-कोई अवश्य कहते कि उन्होंने पराक्रमसे धनुष नहीं तोड़ा

है, किसी युक्तिसे तोड़ा है; क्योंकि धनुषको उठाते, चढ़ाते और तोड़ते तो किसीने देखा नहीं, तब कैसे प्रतीति हो कि अपने बल, पराक्रमसे तोड़ा है? अतएव श्रीरामजी धनुषको तोड़कर उस समयतक दोनों खण्डोंको हाथमें लिये रहे जबतक धनुषका घोर कठोर रव शान्त न हुआ, सबके सावधान हो जानेपर जब सबने हाथमें लिये देख लिया तब सबके देखते पृथ्वीपर डाला। इससे पराक्रमसे धनुष तोड़नेका सबको विश्वास हुआ, क्योंकि अपने पुरुषार्थसे न तोड़ा होता तो उसके दोनों खण्डोंको हाथमें कैसे लिये होते। (ग) *'सब भये सुखारे'* इति। सब लोग जो दुःखी थे, व्याकुल थे, *'जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥'* (२५२। ७) वे सुखी हुए। यहाँ सबका सुख एक साथ कहकर आगे सुखसे जिसकी जैसी दशा हुई वह दशा पृथक् वर्णन करते हैं। पुनः, *'एहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू॥'* इसीसे *'देखि लोग सब भये सुखारे।'*

नोट—१ श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि 'सुर, मुनि और असुरोंके विचारमें तो उसी क्षण यह बात आ गयी कि प्रभुने धनुष तोड़ा है, उसीकी यह आवाज है। यहाँ मनुष्योंकी बात है। वहाँ जो मनुष्य लोग खड़े देखते थे, उनके लिये यह आवाज तो एक क्षणके मध्यमें हुई जिससे उनकी घबराहट भी क्षणिक हुई। भुवनोंमें तो दूरीके अनुसार बहुत देरमें शब्द पहुँचा; शब्दकी गति प्रकाशकी अपेक्षा बहुत मंद है। अतः उस स्थानके देखनेवाले तो एक क्षणभरमें शब्दसे चौंक उठे, परन्तु उसी समय जब लोगोंने देखा कि धनुषके दोनों टुकड़े प्रभुने नीचे गिरा दिये तो लोग बड़े सुखी हुए, क्योंकि उन्हें पता चला कि बिजलीकी दमक और कड़क धनुषके टूटनेसे ही हुई।'

नोट—२ ☞ गोस्वामीजीकी लिखनेकी शैली है कि जहाँ उन्हें बहुत बड़ी गम्भीरता प्रदर्शित करनी होती है वहाँ वे किसी-न-किसी प्रकार समुद्रका रूपक बाँधते हैं। विश्वामित्र एक ऋषि हैं, उनको हर्ष-विषादसे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु धनुष टूटनेसे उन्हें भी हर्ष हुआ। इसी हर्षको यहाँ गोस्वामीजीने कितनी गम्भीरतासे वर्णन किया है, यही बात देखनेयोग्य है।

साधारण लोगोंका वर्णन तो ऊपर चौपाईमें कर ही दिया था, सबमें वे भी आ जाते थे। फिर अलग कहनेकी जरूरत क्या थी? विश्वामित्रके हर्षका अलग वर्णन करके गोस्वामीजीने रामजीके कामकी उत्कृष्टता ध्वनित की है। हर्ष इनको ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि इन्होंने आज्ञा दी थी, उनकी बात पूरी हुई।

नोट—३ रूपक कितना ओजगुणपूर्ण है! (Miltonic Indeed)—(लमगोड़ाजी।)

टिप्पणी—२ (क) *'कौसिक रूप पयोनिधि पावन'* इति। समुद्रका एक रूपक *'संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु'* इस दोहेपर समाप्त किया। अब दूसरा रूपक बाँधते हैं। समुद्रके रूपकका प्रसंग तो था ही, अब उसी प्रसंगमें दूसरा (समुद्रका) रूपक करनेमें तात्पर्य यह है कि प्रसंगसे सब बात कहना कविताकी शोभा है। (ख) सबसे प्रथम विश्वामित्रजीका सुख वर्णन किया, क्योंकि सबके सुखके मूल ये ही हैं, यथा—*'बार बार कौसिक चरन सीस नाइ कह राउ। यह सब सुख मुनिराज तव कृपाकटाक्ष प्रभाउ॥'* (ग) *'पयोनिधि पावन'* कहनेका भाव कि लौकिक समुद्रको पृथ्वीसे कौशिकरूप पावन है, क्योंकि ये एक तो विप्र हैं, दूसरे भारी तपस्वी हैं। [लौकिक समुद्र दिनविशेष, देशविशेष तथा कालविशेष छोड़कर सब देशकालमें अस्पृश्य है। यथा—**'अश्वत्थसागरौ सेव्यौ न स्पृष्टव्यौ कदाचन'** इति भारते **'विना मन्त्रं विना पर्व क्षुरकर्म विना नरैः। कुशाग्रेणापि देवेशि न स्पृष्टव्यो महोदधिः॥'** (स्कान्दे) अर्थात् अश्वत्थ और समुद्रका पूजन करे, पर उन्हें छूये नहीं। मन्त्र, पर्व, क्षौरकर्म बिना, हे देवि! कुशाके अग्रसे भी समुद्रका स्पर्श न करे, परन्तु कुशिकनन्दनका रूप पवित्र समुद्र है। (वि० त्रि०)] (घ) *'प्रेम बारि अवगाह सुहावन'* इति। भाव कि समुद्रके जलसे विश्वामित्रका प्रेम सुन्दर है, क्योंकि समुद्रका जल बाहरकी सफाई करता है और प्रेमजल भीतरकी, यथा —*'प्रेमभगति जल बिनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई॥'* समुद्रकी लहरसे विश्वामित्रकी पुलकावली भारी है, *'बढ़त बीचि पुलकावलि भारी'।* तात्पर्य कि रामजीमें प्रेमपुलकावली होना सब तीर्थोंसे अधिक है।—यहाँ अगली अर्धालीमें 'परम्परित रूपक' है।

टिप्पणी—३ *'रामरूप राकेसु निहारी।'''* इति। (क) *'बढ़त'* कहकर जनाया कि विश्वामित्रजीमें प्रेम कुछ इसी समय नहीं उत्पन्न हुआ, प्रेम तो पूर्वहीसे रहा है, इस समय पराक्रम देख अधिक हो गया। जैसे समुद्रमें जल (और लहरें तो) पहलेसे ही था, पर वह पूर्णचन्द्रको देखकर अधिक बढ़ने लगता है। (ख) दोनोंका मिलान—

समुद्रका जल पावन	१	विश्वामित्रका रूप पावन
समुद्र जलसे भरा	२	कौशिकरूप प्रेमसे भरा
समुद्रका जल अथाह और सुहावन	३	कौशिकका प्रेम अथाह और सुहावन
राकेशको देख ज्वार-भाटा होता है	४	रामरूप देख पुलकावली बढ़ती है
समुद्रकी लहरें भारी	५	कौशिकजीकी पुलकावली भारी

वि० त्रि०—आज रामरूपी चन्द्र पूर्णकलासे उदित हैं। मानो धनुषरूपी राहुको जिसने राजाओंके बलरूपी चन्द्रका ग्रास किया था, समरभूमिमें वध करके विजयलक्ष्मीकी शोभाको प्राप्त किये हैं। यथा—*'लेहु री लोचननि को लाहु। कुँवर सुंदर साँवरो सखि सुमुखि सादर चाहु॥ खंडि हर कोदंड ठाढ़े जानुलंबित बाहु। मुदित मन बर बदन सोभा उदित अधिक उछाहु॥ मनहु दूरि कलंक करि ससि समर सूद्यौ राहु।'* श्रीरामरूपी अपूर्व पूर्णचन्द्रको देखकर प्रेमामृतपूर्ण समुद्ररूप कौशिकजीके शरीरमें बारम्बार पुलकरूपी तरंगें उठने लगीं।

नोट—४ मिलान कीजिये—**'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितम्'** अर्थात् श्रीरामजीने उस शिवजीके धनुषको विश्वामित्रके पुलकके साथ उठाया, अर्थात् धनुष उठानेके समय आनन्दसे विश्वामित्रके रोम खड़े हो गये। (हनुमन्नाटके १। २३)।

बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिं करि गाना॥ ४॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥ ५॥
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला। गावहिं किंनर गीत रसाला॥ ६॥

अर्थ—आकाशमें नगाड़े घमाघम बजने लगे। अप्सराएँ गा-गाकर नाच रही हैं॥ ४॥ ब्रह्मादिक, देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभुकी सराहना करते और आशीर्वाद देते हैं॥ ५॥ बहुत रंग-बिरंगके फूल और फूलोंकी मालाएँ बरसा रहे हैं। किन्नर लोग रसीले गीत गा रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बाजे नभ गहगहे निसाना'* कहकर जनाया कि देवताओंके हृदयमें बहुत आनन्द हुआ, क्योंकि ये 'कदरा' रहे थे कि धनुष टूटेगा या न टूटेगा, यथा—*'सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई'।* वह कायरता धनुष टूटनेपर निवृत्त हुई। इसीसे हर्षपूर्वक उन्होंने घमाघम नगाड़े बजाये। (ख) *'देवबधू'* अर्थात् रम्भादिक अप्सराएँ। यथा—*'रंभादिक सुरनारि नबीना'।* (ग) ☞ उत्सवमें प्रथम बाजे बजते हैं, यथा—*'परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥'* (१९३। ६) *'भएउ समउ अब धारिय पाऊ। यह सुनि परा निसानहिं घाऊ॥'* (३१३। ७) इत्यादि। इसीसे प्रथम निशान बजाना लिखा तब नाचना-गाना। आगे जयमालके उत्सवमें भी प्रथम बाजे बजे, यथा—*'पुर अरु ब्योम बाजने बाजे।'* (२६५। १) (घ) ऊपर लहरोंका उठना कहा, लहरोंके उठनेमें शब्द होता है। अतः *'बढ़त बीचि'''* कहकर *'बाजे नभ'''* कहा। (ङ) नगाड़ोंका बजना कहा पर यह न कहा कि किसने बजाया, उसे आगे खोलते हैं—*'ब्रह्मादिक सुर'''*। अर्थात् ब्रह्मादि देवता सिद्ध मुनीश्वर ही नगाड़े बजाते हैं, प्रशंसा करते हैं, आशीर्वाद देते हैं, फूलमाला बरसाते हैं और जय बोलते हैं, यथा—*'जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी। चले हरषि बरषि प्रसून निज निज लोक जय जय जय भनी॥'*

टिप्पणी—२ (क) *'प्रभुहि प्रसंसहिं'''* इति। प्रभु समर्थको कहते हैं। प्रभु पद देकर जनाया कि उनके सामर्थ्यकी प्रशंसा करते हैं और सामर्थ्यपर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। पुरुषार्थकी प्रशंसा ब्रह्मादि करते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि इस धनुषके तोड़नेका सामर्थ्य सुर, नर, असुर किसीमें

न था। (ख) *'देहिं असीसा'।* क्या असीस देते हैं? यह कि बहुत काल जियो, सदा जयमान रहो, यथा—*'तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा। चिरजिवहु जोरी चारु चार्‌यो मुदित मन सबही कहा॥'* (३२७) ब्रह्मादिक आकाशहीमें स्थित हैं। वहींसे आशीर्वाद दे रहे हैं। [गीतावलीके अनुसार शिव-ब्रह्मा आदि धनुर्भंगका शब्द सुनकर सब आये। यथा—*'चौंके सिव, बिरंचि, दिसिनायक, रहे मूँदि कर कान॥' 'सावधान ह्वै चढ़े बिमाननि चले बजाइ निसान। उमगि चल्यौ आनंद नगर नभ जयधुनि मंगल गान॥'* (गी० १। ९०। ८-९) (ग) *'बरिसहिं सुमन रंग बहु माला'* इति। देवता समय-समयपर फूल बरसाते रहे, यथा—*'समय समय सुर बरिसहिं फूला।'* जब श्रीरामजी आये तब बरसाये और जब जानकीजी आयीं तब बरसाये, यथा—*'देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥', 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई॥'* (पर मालाका बरसाना अभीतक न लिखा था। इससे मालूम होता है कि मालाएँ बनाये रखे रहे कि धनुष टूटनेपर बरसावेंगे), इस समय धनुष टूटनेपर मालाएँ बरसायीं, क्योंकि यह समय और सब समयसे विशेष है, इस समय तो महामङ्गल उपस्थित है। पुन: भाव कि इस समय श्रीरामजीके गलेमें माला पड़नी चाहिये। इसीसे देवोंने फूलमाला बरसाया, फूलमाला बरसाना प्रभुको माला पहनाना है। (घ) फूलमाला बरसाकर जय-जयकार करते रहे, जैसा आगेके *'रही भुवन भरि जय जय बानी'* से स्पष्ट है। इससे सूचित किया कि यह जयमाला है। सबसे प्रथम देवताओंने जयमाल पहनाया। जब वीरको विजय प्राप्त होती है तब उसकी पूजा होती है—फूलमाला बरसाना यह देवताओंकी भक्ति और पूजा है। (ङ) *'बहु'* देहली-दीपक है। (च) देववधूके गानको रसाल न कहा और किन्नरोंके गानमें *'गीत रसाला'* कहा। तात्पर्य कि इनका गाना उनसे भी सुन्दर है।

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुषभंग धुनि जात न जानी॥ ७॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभु धनु भारी॥ ८॥
दो०—बंदी मागध सूतगन बिरुद बदहिं मति धीर।
करहिं निछावरि लोग सब हय गय धन मनि चीर॥ २६२॥

अर्थ—जय-जयकारका शब्द ब्रह्माण्डभरमें छा गया। धनुषभङ्गका शब्द जाते न जाना गया (किसीने न जाना)*॥ ७॥ आनन्दमें भरे हुए सब स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ कह रहे हैं कि श्रीरामजीने शंकरजीका भारी धनुष तोड़ डाला॥ ८॥ धीरबुद्धि भाट, मागध और सूत लोग धीरबुद्धिसे विरदावली कह रहे हैं। सब लोग घोड़े, हाथी, धन, मणि और वस्त्र निछावर कर रहे हैं॥ २६२॥

टिप्पणी—१ (क) *'रही'* शब्दसे 'जय-जय' वाणीकी स्थिरता दिखाते हैं; भुवनमें वाणी भरकर रह गयी, जाती नहीं (अर्थात् समस्त भुवनोंमें जय-जयकार बहुत देरतक होता रहा)। (ख) *'धनुषभंग धुनि जात न जानी'।* भाव कि धनुष जब टूटा तब उसकी ध्वनिसे भुवन भर गये—*'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा॥'* जब धनुर्भंगध्वनिसे भुवन खाली हों तब तो वे जय-जय वाणीसे भरें, इसीसे धनुर्भंगध्वनिका जाना कहते हैं। धनुषभङ्गध्वनिका मूल धनुष है सो न रह गया, इसीसे उसकी

* १ श्रीपोद्दारजीका अर्थ—जिसमें धनुष टूटनेकी ध्वनि जान ही नहीं पड़ती। २—बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'कोदण्ड भंजेउ राम' यह शब्द कोदण्डहीसे निकला। उसीको सुनकर सब लोगोंमें जय-जयकार हुई। धनुषभङ्गका शब्द मिटने न पाया। ३—वीरकविजी लिखते हैं कि 'धनुषभङ्गके भीषण शब्दका भय भवलोकोंमें फैलते देरी नहीं कि उत्साहपूर्ण जय-जयकारका हर्ष भावप्रबल होनेसे भय उसमें लीन हो गया, सब आनन्दमें भर गये, किसीको भयका स्मरण ही न रहा। यह 'भावशान्ति' है।'

ध्वनि भी न रह गयी और जय-जय वाणीका मूल भुवनके लोग हैं सो ये सब विद्यमान ही हैं, (घोर कठोर धनुषभङ्गध्वनिसे जैसे-जैसे लोग सावधान होते जाते हैं तैसे-तैसे जय-जय उच्चारण करते जाते हैं। प्रथम ब्रह्मादि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर सावधान हुए फिर नगर-नर-नारी।) जय-जयकार कर रहे हैं इसीसे वाणी भुवनमें भर रही है। (ग) *'जात न जानी'।* भाव कि धनुषभङ्गध्वनिका प्रारम्भ होना तो जाना पर वह कब बन्द हुई यह न जाना। इससे जनाया कि धनुर्भङ्गध्वनि पूरी तौरपर बन्द न हो पायी थी कि जय-जयकी ध्वनि होने लगी जो सारे ब्रह्माण्डमें ऐसी भर गयी कि धनुर्भङ्गध्वनि उसीमें विलीन हो गयी, इसका पता ही न रह गया।

टिप्पणी—२ *'मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी।…'* इति। (क) ब्रह्मादिका उत्सव कहकर अब पुर-नर-नारीका उत्सव कहते हैं। *'मुदित'* से हृदयका आनन्द कहा। हृदयका आनन्द मुखसे प्रकट करने लगे—*'भंजेउ रामु…'।* जैसे ब्रह्मादिक *'प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा'* वैसे ही सब स्त्री-पुरुष *'मुदित कहहिं…'* अर्थात् प्रशंसा कर रहे हैं। (ख) *'धनु भारी'* कहनेका भाव कि रामजी अति सुकुमार हैं, वे शम्भुधनुके तोड़ने-योग्य न थे। (ये वही पुर-नर-नारी हैं जो मञ्चोंपर बैठे हुए हैं और जिनके सम्बन्धमें पूर्व कहा गया है—*'नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाए', 'नर नारिन्ह परिहरीं निमेषे'। 'जहँ तहँ'* अर्थात् जो जहाँ है वहीं।) आश्चर्य था इसीसे कहते हैं कि रामजीने भारी धनुष तोड़ा। पुनः भारी कारण *'सम्भु'* विशेषण देकर यह बताया कि वह ईश्वरका धनुष था इसीसे भारी था, किसीके टसकाये न टसका था।

टिप्पणी—३ *'बंदी मागध सूतगन…'* इति। (क) विरुदावली-कथन करनेमें बन्दीगण मुख्य हैं, यथा—*'तब बंदीजन जनक बोलाए। बिरिदावली कहत चलि आए॥'* (२४९। ७) *'जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं॥'* (२६५। ४) *'कतहुँ बिरुद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेद धुनि भूसुर करहीं॥'* इत्यादि। इसीसे इनको प्रथम कहा। विरद (वीरताका बाना) कहते हैं, क्योंकि यहाँ वीरताका काम किया है। (ख) *'मतिधीर'।* भाव कि बुद्धिको धीर किये हुए हैं, पढ़नेमें जल्दी नहीं करते, समझकर पढ़ते हैं। (ग) बंदी, मागध (वंश-प्रशंसक) और सूत (पौराणिक) के गण अर्थात् समूह हैं, ये सब निछावर लेनेवाले हैं, ये सब प्रशंसा कर रहे हैं, इसीसे उत्तरार्द्धमें दान देनेवाले भी *'लोक सब'* बताये अर्थात् देनेवाले भी बहुत हैं। (घ) सब लोग निछावर करते और देते हैं और ये (बन्दी आदि) सब लेते हैं, यथा—*'राम निछावरि लेन हित देव हठि होत भिखारी।'* (ङ) 'धन' दो तरहका होता है, एक स्थावर, दूसरा जङ्गम। घोड़े, हाथी जङ्गम हैं और मणि, वस्त्र स्थावर हैं। दोनों प्रकारका धन निछावर करते हैं। अथवा 'धन' से अशर्फी, रुपया आदिका देना कहा। अथवा, बाजा-बजानेवालोंको निछावर देते हैं—बाजेवालोंको आगे कहते हैं। (च) पुनः भाव कि बंदी आदि *'भंजेउ राम संभु धनु भारी'* यह प्रशंसा कर-करके विरदावली कहते हैं, उसी तरह सब लोग प्रशंसा करते हुए निछावर देते हैं।

नोट—*'मागध, सूत'* इति। ब्रह्मपुराणमें इनकी उत्पत्ति पृथुजीके 'पैतामह-यज्ञ' से कही गयी है। उस यज्ञमें शोभाभिषेकके दिन सूति-(सोमरस निकालनेकी भूमि-) से परम बुद्धिमान् सूतकी उत्पत्ति हुई उसी महायज्ञमें विद्वान् मागधका भी प्रादुर्भाव हुआ। उन दोनोंको महर्षियोंने पृथुकी स्तुति करनेके लिये बुलाया और कहा कि 'तुमलोग इन महाराजकी स्तुति करो। यह कार्य तुम्हारे अनुरूप है और ये महाराज भी इसके योग्य पात्र हैं।' सूत और मागधने कहा कि हम महाराजका नाम, कर्म, लक्षण और यश कुछ भी नहीं जानते तब स्तुति क्योंकर करें। तब ऋषियोंने कहा कि तुम भविष्यमें होनेवाले गुणोंका उल्लेख करते हुए स्तुति करो। उन्होंने वैसा ही किया। जो-जो कर्म उन्होंने बताये उन्हींको पीछे पृथु महाराजने पूर्ण किया। तभीसे लोकमें सूत, मागध और बंदीजनोंद्वारा आशीर्वाद दिलानेकी परिपाटी चल पड़ी। विशेष अन्यत्र लिखा गया है। १९४। ६ में भी देखिये। [प्र० सं० में लिखा गया था कि भाट (बंदी) कवित्तोंमें मागध (कत्थक) पदोंमें और सूत (पौराणिक) श्लोकोंमें यश गान कर रहे हैं।]

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥ १॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाए। जहँ तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए॥ २॥
सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**'झाँझि'** (झाँझ)=मँजीरेकी तरह, पर उससे बहुत बड़े काँसेके ढले हुए तश्तरीके आकारके दो ऐसे गोलाकार टुकड़ोंका जोड़ा, जिनके बीचमें कुछ उभार होता है, उसी उभारमें एक छेद होता है, **'मृदंग'**=इसके दोनों मुँहड़े चमड़ेसे मढ़े होते हैं। इसका ढाँचा पक्की मिट्टीका होता है, इससे वह मृदङ्ग कहलाता है। **'सहनाई'**= बाँसुरी या अलगोजेके आकारका, पर उससे कुछ बड़ा; मुँहसे फूँककर बजाया जानेवाला बाजा, जो प्रायः रोशनचौकीके साथ बजाया जाता है, नफीरी, तुरही **'भेरि'**=बड़ा ढोल या नगाड़ा, ढक्का। **ढोल**=लकड़ीके गोल कटे हुए लम्बोतरे कुंदेको भीतरसे खोखला करते हैं और दोनों ओर मुँहपर चमड़ा मढ़ते हैं। दोनों ओरके चमड़ोंपर भिन्न प्रकारका शब्द होता है। एक ओर तो ढबढबेकी तरह गम्भीर ध्वनि निकलती है और दूसरी ओर टंकारका-सा शब्द होता है।

अर्थ—झाँझ, मृदङ्ग, शङ्ख, शहनाई, भेरी, ढोल और सुहावने छोटे नगाड़े आदि॥ १॥ बहुत-से सुन्दर बाजे सुहावने बज रहे हैं। जहाँ-तहाँ युवावस्थावाली स्त्रियाँ मङ्गल गाने लगीं॥ २॥ सखियोंसहित सब रानियाँ अत्यन्त हर्षित हुईं; मानो सूखते हुए धानपर पानी पड़ गया हो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीकी विजय हुई; इसीसे जो बाजे विजयके समय बजाये जाते हैं उन्हींका बजाना लिखते हैं। यथा—*'भेरि नफीरि बाजि सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥'* (६। ७८) (ख) *'सुहाई'* कहनेका भाव कि ये बाजे वीररसके प्रारम्भमें वीरताको उत्तेजित करनेके लिये जोरसे बजाये जाते हैं, यथा—*'पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समयके घन जनु गाजहिं॥'* (६। ७८) यहाँ वीरताका काम हो चुका, इसीसे यहाँ जोरसे न बजकर सुहावने बज रहे हैं। (जैसे शहनाईके साथ छोटी नगड़िया रहती है वैसे ही यहाँ ढोलके साथ दुंदुभी है।) (ग) (शंका) दुंदुभी शब्द पुँल्लिङ्ग है—'**दुन्दुभिः पुमान्**' इत्यमरः तब *'सुहाई'* स्त्रीलिङ्ग कैसे कहा? (समाधान) भाषामें बहुत पुँल्लिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्गमें बोले जाते हैं, जैसे 'ऋतु' 'अग्नि' 'शूल' वैसे ही यहाँ जानो। (नोट—श० सा० में 'दुन्दुभि' को स्त्रीलिङ्ग ही लिखा है जब नगाड़ा वा धौंसा अर्थ होता है। 'वरुण' 'विष' 'दुंदुभि-राक्षस' इत्यादि अर्थोंमें ही वह पुँल्लिङ्ग माना गया है। *'तब देवन्ह दुंदुभी बजाई', 'मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही'*)— (घ) *'बाजहिं'* कहकर जनाया कि धनुष टूटा तब प्रथम देवोंके नगाड़े बजे, यथा—*'बाजे नभ गहगहे निसाना।'* (२६२। ४) उसे सुनते ही यहाँ मनुष्योंके बाजे बजने लगे, तब मङ्गलगान, निछावर इत्यादि हुए। (ङ) *'बहु बाजने'* कहकर और भी अनेक प्रकारके सभी बाजे सूचित कर दिये। (च) जब देवताओंके बाजे बजे तब देवाङ्गनाओंका नाचना-गाना लिखा, वैसे ही जब मनुष्योंके बाजे बजे तब मनुष्योंकी स्त्रियोंका गाना कहा। यहाँ राजसभा है, कुलवती स्त्रियोंके नाचनेका मौका नहीं है, इसीसे इनका नाचना न कहा, केवल *'मंगल'* गान करना कहा। धनुष टूटनेसे देवताओं और मनुष्यों दोनोंको एक-सा हर्ष हुआ, इसीसे दोनोंका एक समान उत्सव लिखा। यथा—

बाजे नभ गहगहे निसाना	१	*बाजहिं बहु बाजने सुहाए*
देवबधू नाचहिं करि गाना	२	*जहँ तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए*
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा / *प्रभुहि प्रसंसहिं देहि असीसा*	३	*मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी।* / *भंजेउ राम संभु धनु भारी*
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला	४	*करहिं निछावरि लोग सब हय गय धन मनि चीर*

☞ देवता उतरकर निछावर नहीं कर सकते, क्योंकि यह माधुर्यलीलाके प्रतिकूल है। आकाशसे पुष्पवृष्टि करते हैं। इसीसे मनुष्य फूल नहीं बरसाते; फूल बरसाना देवताओंका काम है। *'सुहाये'* अर्थात् श्रवणसुखदायी और सुन्दर।

वि० त्रि०—पहिले झाँझ, मृदङ्ग बजा, फिर विजयसूचक शङ्खध्वनि हुई। शङ्ख बजते ही बाहर खबर लगी, फाटकपर शहनाई बजी तब सेनामें भेरी, ढोल और दुन्दुभी बजायी गयी।

टिप्पणी—२ (क) *'जहँ तहँ जुबतिन्ह…'* का भाव कि स्त्रियाँ *'निज निज थल अनुहारि'* चारों तरफ मञ्चोंपर बैठी हुई हैं, अतएव चारों दिशाओंमें जो जहाँ बैठी हैं वहींसे मङ्गल-गान कर रही हैं। इसी प्रसंगमें रानियोंका सुख वर्णन करते हैं। (ख) *'सखिन्ह सहित हरषीं'* कहनेका भाव कि जब रानियोंने अपनी विकलता सखियोंसे कही थी तब वे भी विकल हुईं, इसीसे दोनोंका हर्ष लिखा। पुनः भाव कि खेतीमें धानके पेड़ बहुत होते हैं, (यहाँ पूर्व ही कह आये हैं कि कृषी सूखने ही चाहती है उस कृषीके) सब सखियोंसहित रानी धानके पेड़ हैं, सब कुम्हला रही थीं सो हर्षित हुईं। सब लहलहा उठीं। (ग) ☞ जिस क्रमसे रानी, श्रीजनकमहाराज और श्रीजानकीजीका भावानुकूल श्रीरामजीको देखना पूर्व वर्णन किया था उसी क्रमसे उनका सुख वर्णन करते हैं। प्रथम रानियोंका देखना कहा था, यथा—*'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी'*। *'सहित बिदेह'* कहनेसे रानियोंकी प्रधानता हुई, इसीसे यहाँ रानियोंका सुख प्रथम कहा। सुख-वर्णनमें प्रथम स्त्रियोंका सुख वर्णन किया, यथा *'जहँ तहँ जुबतिन्ह मंगल गाए।'* फिर उसी प्रसङ्गमें सखियोंसहित रानियोंका सुख वर्णन करते हुए *'अति हरषीं'* कहकर जनाया कि हर्ष तो सभीको हुआ पर इनको अत्यन्त हुआ, जैसे पानी पड़नेसे सभी अन्नोंको लाभ होता है पर धानको अत्यन्त लाभ होता है (क्योंकि धानका तो वह जीवन ही है, और तो कुएँ आदिके जलसे भी हरे हो जा सकते हैं।) पुनः *'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥'*; रानियाँ अति व्याकुल थीं इसीसे उनको अति हर्ष हुआ। *'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा'* पूर्व कह ही आये हैं जो मोहवश शङ्करचाप जहाजपर सवार था, चापके टूटते ही वह भी डूब गया। दारुण दुःख दावानल डूबा, अतः सुख हुआ। (घ) *'सूखत धान…'* में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई॥ ४॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटें। जैसे दिवस दीप छबि छूटें॥ ५॥

अर्थ—श्रीजनक महाराजने सोच-त्याग सुख प्राप्त किया, मानो तैरते हुए थक जानेपर वा तैरते थके हुएने थाह पा ली॥ ४॥ धनुषके टूटनेपर (सब) राजा (ऐसे) श्रीहीन (तेजरहित) हो गये, जैसे दिनमें दीपककी छबि (शोभा) जाती रहती है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) वात्सल्यमें माता प्रथम (प्रधान वा अग्रगण्य) हैं, इसीसे प्रथम श्रीसुनयनाजीका सुख वर्णन करके पीछे श्रीजनकजीका सुख वर्णन करते हैं। दूसरे माताका दर्जा पितासे बड़ा है इससे प्रथम उनका सुख कहा। (ख) *'पैरत थकें…'* इति। यहाँ नदी या जलाशय क्या है? तैरनेवाले तो जनकजी हैं ही, पर तैरना, थकना और थाह पाना क्या है? क्रमसे इनके उत्तर ये हैं—सोच समुद्र है। विवाहके लिये धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा करके सोचमें पड़े, वही तैरना है। प्रतिज्ञा पूरी न हुई जिससे वे पछताने लगे कि *'जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौं पन करि होतेउँ न हँसाई॥'* (२५२। ६) यही थकना है। जैसे समुद्रमें थाह मिलनेका आशा-भरोसा नहीं, वैसे ही श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे यह आशा-भरोशा न था। सोचसमुद्रमें तैरते-तैरते थक गये, वैसे ही श्रीरामजीने धनुषको तोड़ डाला जिससे सोच छूटा, सुख मिला, यही थाहका पाना है। [बाबा रामदासजीका मत है कि प्रतिज्ञा समुद्र है, सोच जल है, *'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥'* इत्यादि तैरना है। *'लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू। सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ॥'* यहाँसे थकना प्रारम्भ हो गया। *'जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौं पन करि होतेउँ न हँसाई॥'* यह पूरी तरह थक जाना है।' श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'बुद्धिसे विचार करना कि (राजाओंसे धनुष नहीं टूटा अब हमारा) क्या कर्तव्य है।' तैरना है और 'विचार करते-करते विचारशक्तिसे रहित हो जाना और प्रण जानेके सोचमें पड़ जाना' थकना है।] जैसे डूबते हुएको

थाह मिल जानेसे सुख होता है वैसे जनकजीको रामजीके धनुष तोड़नेपर सुख हुआ।* (ग) श्रीसुनयनाजीको धानकी और श्रीजानकीजीको चातकीकी उपमा दी; क्योंकि ये दोनों केवल श्रीरामजीको चाहती हैं, जैसे धान और चातकी केवल जल चाहते हैं। और, राजाको तैरते हुए थाह पाना कहा; क्योंकि राजाने प्रण किया है, वे केवल अपने प्रणकी पूर्ति चाहते हैं, यथा—*'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ॥'* जैसे तैरनेवाला केवल पार पानेकी इच्छा करता है।

टिप्पणी—२ *'श्रीहत भये भूप धनु टूटे।'''* इति। (क) यहाँ 'सूर्य, दिन, दीप, अन्धकार' क्या हैं? श्रीरामजी सूर्य हैं, धनुषका टूटना दिन है, राजा दीपक हैं, धनुष अन्धकार है। जैसे सूर्यसे तमका नाश वैसे ही रामजीसे धनुषका नाश। जैसे दिनमें दीपक शोभारहित वैसे ही धनुषभंग होनेसे सब राजा शोभारहित। जैसे रातमें दीपककी शोभा है वैसे ही धनुषके रहते राजाओंकी शोभा थी, तबतक किसीकी छोटाई-बड़ाई न थी, सब बराबर थे। राजाओंकी श्री दीपककी छबि है। *'दिवस दीप छबि छूटें'* कहकर श्रीरामजीकी 'श्री' और राजाओंकी 'श्री' में इस प्रकारका और इतना अन्तर बताया जैसा सूर्य और दीपकमें अन्तर है। (ख) राजा बहुत हैं इसीसे *'छूटें'* बहुवचन क्रिया दी। (ग) पूर्व लिखा था कि *'प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भए तारे॥'* क्योंकि तब कुछ-कुछ शोभा बनी रही थी और अब सब शोभा जाती रही, वे निस्तेज हो गये; इससे *'दिवस दीप छबि छूटें'* की उपमा दी। (घ) पूर्व भी राजाओंका *'श्रीहत'* होना कहा था, यथा—*'श्रीहत भये हारि हिय राजा'* परन्तु तबतक धनुष टूटा न था, इससे वहाँ दीपककी (वा, कोई भी) उपमा न दी थी। धनुषरूपी तमके रहते दीपककी शोभा बनी रही। धनुष टूटनेपर श्री बिलकुल नष्ट हो गयी तब दीपककी उपमा दी। (ङ) 'जनकजीका सुख कहकर सब राजाओंका हाल प्रसंग पाकर कहा। राजाके प्रसंगमें राजाका हाल कहना योग्य ही है। (च) [*'श्रीहत भये'*=ऐश्वर्य वा तेज जाता रहा, यथा—*'जस प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥'* वा=मुखद्युति कुम्हलाई, यथा—*'नमित सीस सोचहिं सलज सब श्रीहत भये सरीर।'* (गी०)] (छ) पुनः, चन्द्रमा और तारागणकी शोभा एक-सी है, बड़े-छोटेका भेद है। ऐसे ही राजा छोटे हैं, रामजी बड़े हैं। सूर्य और अग्निका तेज एक तरहका है, रामजी सूर्य हैं, राजा दीपक हैं। इस भेदसे यहाँ दो उपमाएँ दीं।

वि० त्रि०—प्रथम अरुणोदय कहा, यथा—*'अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन'* तब सूर्योदय कहा—*'उदित उदयगिरिमंच पर रघुबर बाल पतंग।'* सूर्योदय होनेपर अब दिन कह रहे हैं कि राजा ऐसे निस्तेज पड़ गये जैसे दिनमें दीपक। भाव कि *'मंद महीपन्ह कर अभिमानू'* भी उस समाजमें था जो चाप-जहाजपर चढ़े थे, सो इस समय धनुष टूटते ही वह डूब गया। उसीके साफल्यरूपसे राजाओंकी श्रीहीनता वर्णन करके कहते हैं।

सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥ ६॥
रामहि लखनु बिलोकत कैसें। ससिहि चकोर किसोरकु जैसें॥ ७॥

शब्दार्थ—**किसोरकु** (किशोरक)=छोटा बच्चा। जैसे बाल और बालक वैसे ही किशोर और किशोरक। स्वार्थमें 'क' प्रत्यय है।

अर्थ—श्रीसीताजीका सुख किस प्रकार वर्णन किया जाय? (ऐसा जान पड़ता है) मानो स्वातीका जल पाकर चातकी (सुखी हो रही है)॥ ६॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीको कैसे देख रहे हैं, जैसे चकोरका बच्चा चन्द्रमाको ताकता है॥ ७॥

वि० त्रि०—सीताजीकी अवस्था रामजीने देखी तो ऐसी हो रही थी जैसे प्यासा बिना पानीके मर रहा हो, यथा—*'तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा।'* अब जैसे चातकीको स्वातीकी बूँद मिल जाय और

* वीरकविजी—जनकजीके हृदयमें पहिले सोच था, फिर सुख हुआ। आधार एक राजा जनक हैं, आश्रय लेनेवाले सोच, सुख भिन्न-भिन्न हैं। यह 'द्वितीयपर्याय अलङ्कार' है। 'पैरत थके थाह जनु पाई' में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

प्यास मिटकर सुख हो वैसा सुख श्रीजनकनन्दिनीको हुआ। वर्षाके सब नक्षत्र बीत गये, चातकीको जल न मिला, उसकी प्यास बढ़ती ही गयी, वह मरणोन्मुख हो रही थी, तब स्वातीकी वर्षा हो गयी, जिसकी वस्तुतः उसे प्यास थी, अतः सीताजीके सोचके डूबनेका प्रसंग कहते हैं कि वह भी पूर्वोक्त सांयात्रिकों (पोतवणिकों) मेंसे था। यथा—*'सिय कर सोच जनक पछितावा।'*

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीसुनयनाजीका, फिर श्रीजनकजीका सुख कहकर अब श्रीजानकीजीका और उनके पीछे श्रीलक्ष्मणजीका सुख कहा। जैसे स्त्रियोंके प्रसंगमें स्त्रियोंका सुख और राजाके प्रकरणमें राजाका हाल कहा; वैसे ही बालकोंके प्रसंगमें बालकका सुख कहा। श्रीजानकीजी बालिका हैं और लक्ष्मणजी श्रीजानकीजीको पुत्रके समान हैं; दोनों ही बालक हैं। पुनः क्रमका भाव कि माताका गौरव पितासे अधिक है, इसीसे प्रथम श्रीसुनयनाजीका सुख कहा, तब श्रीजनकजीका। जानकीजी पुत्री हैं इससे पिताके बाद पुत्री कन्याका सुख कहा। श्रीजानकीजी लक्ष्मणजीको पुत्र-समान मानती हैं, अतः इनका सुख कहकर पुत्र लक्ष्मणका सुख कहा गया। (ख) *'बरनिय केहि भाँती'* अर्थात् किसी प्रकार वर्णन नहीं करते बनता। न वर्णन कर सकनेका हेतु प्रथम ही कह चुके हैं, यथा—*'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥ उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ॥'* (२४२। ६-७) जैसे सबोंकी भावनाएँ कहीं, पर सीताजीकी भावना न कह सके, वैसे ही सबका सुख कहा पर जानकीजीका सुख न कह सके। (ग) *'सूखत धान परा जनु पानी' 'पैरत थकें थाह जनु पाई'* और *'जनु चातकी पाइ जल स्वाती'* ऐसी उपमाएँ देकर सूचित किया कि रानी, राजा और जानकीजी इन तीनोंको मरणान्तक्लेश रहा। यदि धनुषके तोड़नेमें किञ्चित् भी विलम्ब होता तो ये तीनों मर जाते। पुनः जैसे चातकी स्वाती छोड़ अन्य जल नहीं छूती वैसे ही श्रीजानकीजी रामजीको छोड़ दूसरेको नहीं चाहतीं। (घ)*'जनु चातकी पाइ जल स्वाती'* कहनेसे यह सूचित हुआ कि वर्णन नहीं करते बनता, इस उपमासे समझ लो कि धनुष टूटे बिना जानकीजीको चातकीका-सा क्लेश था और धनुष टूटनेसे चातकीका-सा सुख हुआ। दुःख-सुख कहते नहीं बनता। ☞ उत्प्रेक्षासे दिखाभर देते हैं। [नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि द्वीप-द्वीपके अनेक राजा जो आये और धनुष उठाते थे वही चतुर्मासकी वर्षा है, उनकी ओर चातकीरूप श्रीजानकीजी दृष्टि नहीं देती थीं क्योंकि उनकी आशा तो स्वातीके जलरूप श्रीरामजीकी प्राप्तिमें है।' यहाँ भी उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।]

टिप्पणी—२ (क) *'ससिहि चकोर किसोरकु जैसे'* इति। (सीताजीके लिये) चातकी और (लक्ष्मणजीके लिये) चकोरका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि ये दोनों श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं। प्रथम ही *'रामरूप राकेस निहारी'* से रामजीको राकेश कह आये, वही प्रसङ्ग चला आ रहा है, इसीसे यहाँ भी चन्द्रमा और चकोरका दृष्टान्त देते हैं। (ख) रानी, राजा और जानकीजीको रामजी प्राप्त न थे, जब धनुष टूटे और सम्बन्ध हो तब वे मिलें, इसीसे 'सूखते धानमें पानी पड़ने' 'तैरतेमें थकनेपर थाह पाने' और 'चातकीको स्वातीजलके मिलने' की उपमा दी। ये तीनों बड़े व्याकुल थे, इसीसे इनको बड़ी व्याकुलता (होनेपर क्लेश) से मिलना कहते हैं। और विश्वामित्र तथा लक्ष्मणजी दोनों रामजीके सम्बन्धी हैं और दोनोंको रामजी प्राप्त हैं, इससे इनको क्लेशसे पानेवालोंकी उपमाएँ नहीं देते। इनका प्रेममात्र रामजीमें दिखाते हैं। जैसे समुद्र और चकोरका प्रेम चन्द्रमें है। पुनः, जैसी विश्वामित्र और लक्ष्मणजीको रामरूपकी प्राप्ति है वैसे ही उपमा देकर भेद दिखाते हैं। श्रीविश्वामित्रजीको समुद्र और रामजीको राकेश कहकर सूचित किया कि जैसे समुद्रको उसका सुखदाता पूर्णचन्द्र मासभरमें मिलता है वैसे ही विश्वामित्रजीको रामजीने बहुत दिनोंमें मिलकर सुख दिया। श्रीरामजीको चन्द्र और लक्ष्मणजीको चकोर किशोरक कहकर दिखाया कि जैसे चन्द्रमासे चकोर सदा सुख पाता है वैसे ही लक्ष्मणजी रामरूपसे सदा सुख पाते हैं। मुनिके सुख पानेमें नियम है (पूर्णिमाका नियम जैसे समुद्रको), लक्ष्मणजीके सुखमें कोई नियम नहीं है। (पुनः समुद्रकी उपमा देकर जनाया कि इनका सुख सब दिन नहीं, जैसे समुद्रमें ज्वार-भाटा केवल पूर्णिमाको होता है। ये तो माँग लाये थे, ब्याहके बाद फिर साथ छूट जायेगा और लक्ष्मणजीको सदैव प्राप्त है।)

(ग) लक्ष्मणजी किशोर हैं, इसीसे उन्हें चकोर किशोरक अर्थात् बालचकोर कहा। [औरोंके सम्बन्धमें उत्प्रेक्षा की और लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें उपमा कही। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।]

श्रीनंगे परमहंसजी—*'ससिहि चकोर किसोरकु जैसे'* इति। 'जैसे चकोर अग्निको भक्षण करते हैं। उनके अन्तस् (अन्त:करण) में गरमी विशेष रहती है तो वह चन्द्रमाकी तरफ दृष्टि देते हैं। उनको चन्द्रमाकी शीतलता बहुत सुख देती है। वैसे ही राजा जनकजीके वचनोंने लखनलालजीके अन्त:करणमें क्रोधरूप अग्नि पैदा कर दी थी। जब श्रीरामजीने धनुषको तोड़ दिया। तब धनुषके तोड़नेकी शीतलता रामजीके द्वारा लखनलालजीके क्रोधरूप अग्निकी गरमीको शान्त कर रही है। इससे रामजीको देखनेसे लखनलालको तृप्ति नहीं होती है।'

वि० त्रि०—इस समय प्रभु धनुषभंग करके खड़े हैं, अपार शोभा है। लक्ष्मणजी यद्यपि विश्वामित्रजीके पास बैठे हैं तथापि उनकी दृष्टि रामजीपर ही है। इस समय वे इस चावसे देख रहे हैं जैसे चन्द्रको चकोर किशोर देखे।

श्रीराजारामशरणजी—अपनी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शैलीके अनुसार कविने धनुषभंगके प्रभावोंको किस विस्तार और सरसतासे सभीके सम्बन्धमें पृथक्-पृथक् फिर वर्णन कर दिया? चित्रण ऐसा है कि 'टाकी' कला भी हार जायगी।

सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमनु राम पहिं कीन्हा॥ ८॥

दो०—संग सखीं सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार।

गवनी बाल मराल गति सुखमा अंग अपार॥ २६३॥

अर्थ—(जब श्रीरामजीने धनुषके दोनों खण्ड पृथ्वीपर डाल दिये, मङ्गल गान आदि होने लगा, बाजे बजने लगे, इत्यादि) तब श्रीशतानन्दजीने आज्ञा दी। श्रीसीताजीने रामजीके पास गमन किया (अर्थात् उनके पास चलीं)॥ ८॥ साथमें सुन्दर चतुर सखियाँ मङ्गलाचारके गीत गा रही हैं। श्रीसीताजी बालहंसिनीकी चालसे चलीं। उनके अङ्गोंमें अपार परमा शोभा है॥ २६३॥

टिप्पणी—१ (क) *'आयसु दीन्हा'।* क्या आज्ञा दी यह यहाँ नहीं खोला; आगे जब सीताजीने पास जाकर जयमाल पहनाया तब ज्ञात हुआ कि जयमाल पहनानेकी आज्ञा दी थी। (ख) *'सतानंद आयसु दीन्हा॥'* प्रथम बार जनकजीको बुलाना लिखा गया है, यथा—*'जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ॥'* अर्थात् रङ्गभूमिमें सीताजी जनकजीकी आज्ञासे आयीं और अब जयमाल पहनानेकी आज्ञा शतानन्दजीने दी, क्योंकि जयमाल पहनाना एक प्रकारसे विवाह ही है। विवाहमें पुरोहित ही प्रधान है; इसीसे यह कार्य पुरोहितकी आज्ञासे हुआ। विश्वामित्रजी इस समय श्रीरघुनाथजीके पुरोहित हैं। इसीसे धनुष तोड़नेकी आज्ञा इन्होंने दी और धनुष टूटनेपर जयमाल जनकजीके तरफसे पड़ा, इसीसे जयमालकी आज्ञा उधरके पुरोहितने दी। [या यों कहें कि यहाँ विवाह तीन प्रकारसे है—प्रण, जयमाल और लोकव्यवहार। विवाह पुरोहितद्वारा होता है सो प्रतिज्ञाके विवाहमें रामजीके पुरोहितने आज्ञा दी *'उठहु राम भंजहु भवचापू'।* जयमालविवाहमें उधरके पुरोहित श्रीशतानन्दजीने आज्ञा दी। लोकव्यवहार बारात आनेपर होगा। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ (क) *'सुंदर चतुर'* कहकर जनाया कि ये ही सखियाँ सदा श्रीजानकीजीके साथ रहती हैं। जब फुलवारीमें गयीं तब इनको *'चतुर सुंदर'* कहा था, यथा—*'संग सखीं सब सुभग सयानी॥'* (२२८। ३) **सुभग सयानी**=सुन्दर चतुर। फिर जब रङ्गभूमिमें आयीं तब भी इनको सुन्दर और चतुर कहा था, यथा—*'चतुर सखीं सुंदर सकल सादर चलीं लेवाइ॥'* (२४६) इसीसे ज्ञात होता है कि तीनों बार वही सखियाँ साथ थीं। (ख) सखियोंकी चतुराई स्पष्ट है, यथा—*'चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥'* (२६४। ५) जानकीजीकी विदेहदशा देखकर इसने जयमाल पहनानेको कहा—यह चतुरता है। फिर जब *'कोलाहल सुनि सीय सकानी'* तब *'सखीं लेवाइ गईं जहँ रानी॥'* (२६७। ५) सीताजीको शङ्कित जान और दुष्ट राजाओंके

बीचमें जानकीजीका रहना उचित नहीं है यह समझकर वहाँसे ले गयीं, यह चतुरता है। पुनः, *'आसिष दीन्हि सखीं हरषानी। निज समाज लै गईं सयानी॥'* (२६९। ५) यहाँ भी भारी भीड़से हटा ले गयीं यह चतुरता है। (ग) *'सुन्दर'* और *'चतुर'* कहकर सखियोंकी पूर्ण सुन्दरता कही। (घ) *'मंगलचार'*=मङ्गल गीत। *'गावहिं सुंदरि मंगल गीता। लै लै नाम राम अरु सीता॥'* धनुष टूटा, यह बड़ा मङ्गल हुआ, इसीसे मङ्गल गाती हैं। जब फुलवारी और रङ्गभूमिमें आयीं तब साधारण गीत गाती रहीं, यथा—*'गावहिं गीत मनोहर बानी॥'* *'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार'* में सखियोंकी शोभा कही। *'गवनी बालमराल गति'''* से सीताजीकी शोभा कही। सखियोंके अङ्गमें शोभा है और सीताजीके अङ्गमें परमा शोभा है। सखियोंकी शोभाका पार है और जानकीजीकी शोभा 'अपार' है, उसका पार नहीं है। जानकीजी बालिका हैं, इसीसे बालमरालकी उपमा दी। (ङ) पहले पुरकी स्त्रियोंका मङ्गलगान कहा था, अब सखियोंका मङ्गलगान कहा।

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबिगन मध्य महाछबि जैसे॥ १॥
कर सरोज जयमाल सुहाई। बिस्वबिजय सोभा जेहि* छाई॥ २॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परै न काहू॥ ३॥

अर्थ—सखियोंके मध्यमें श्रीसीताजी कैसी सोहती हैं। जैसे छबिगणके मध्यमें महाछबि सोहे॥ १॥ हस्तकमलमें सुन्दर कमलका जयमाल है, जिसपर विश्वविजयकी शोभा छायी हुई है॥ २॥ तनमें संकोच है और मनमें परम उत्साह है। गूढ़ प्रेम किसीको लख नहीं पड़ता॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'सखिन्ह मध्य सिय'''* इति। (क) सखियाँ छबिकी मूर्ति हैं। सखि-गण छबि-गण हैं। श्रीसीताजी महाछबिकी मूर्ति हैं। फुलवारीमें श्रीजानकीजीकी शोभासे सखियोंकी शोभा कही थी, यथा—*'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि गृह दीपसिखा जनु बरई॥'* (२३०। ७) और यहाँ छबिगण मध्य कहकर सखियोंकी शोभासे श्रीजानकीजीकी शोभा कहते हैं। इस तरह अन्योन्य शोभावर्णन की। (ख) ऊपर दोहेके पूर्वार्द्धमें सखियोंकी और उत्तरार्धमें सीताजीकी शोभा वर्णन की, अब दोनोंको समेटकर यहाँ उसीका दृष्टान्त देते हैं। (ग) श्रीजानकीजीकी सब प्रकारकी शोभा कहते हैं—*'गवनी बालमराल'* से गतिकी *'सुखमा अंग अपार'* से अङ्गोंकी, *'छबिगन मध्य महाछबि'* से सखियोंके मध्यकी, *'करसरोज जयमाल'* से जयमालद्वारा, *'तन सकोच मन परम उछाहू'* से लाजकी और *'गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू'* से पतिमें प्रेमकी शोभा कही।

टिप्पणी—२ *'कर सरोज जयमाल'''* इति। (क) जयमाल *'सुहाई'* है। जिस वस्तुकी है उस वस्तुसे तथा बनावटसे *'सुहाई'* है—यह जयमालके स्वरूपकी सुन्दरता कही। *'बिस्वबिजय सोभा''''''* यह गुणकी सुन्दरता कही। *'कर सरोज'* कहकर संगकी सुन्दरता कही, अर्थात् श्रीजानकीजीके हस्तकमलका ही सङ्ग है, इससे भी सुन्दरताको प्राप्त हो रही है। इस तरह रूप, गुण और सङ्गसे *'सुहाई'* है। (ख) पुनः यहाँ सरोजसे करकी शोभा, करमें जयमालकी और जयमालमें विश्वविजयकी शोभा कहते हैं। तात्पर्य कि जो विश्वको विजय करे वह यह माला पहिने। बन्दीगणकी घोषणा भी ऐसी ही थी, यथा—*'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरइ हठि तेही॥'* (ग) *'छाई'* का भाव कि विश्वमें अनेक आभूषण और वस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ हैं पर किसीमें विश्वविजयकी शोभा नहीं है और जयमालमें विश्व-विजयकी शोभा छा रही है। यथा—गीतावलीमें—*'जयमाल जानकी जलजकर लई है। सुमन सुमंगल सगुनकी बनाई मंजु, मानहुँ मदन माली आपु निरमई है॥'* (१। ९६)

वि० त्रि०—महाछबि कहकर उनका *'आदि सक्ति छबि निधि जगमूला'* होना द्योतित किया। जिनके

---

* पाठान्तर—'जनु छाई'—ना० प्र०। 'जेहि' एक तो सबसे प्राचीन १६६१ की प्रतिका पाठ है, दूसरे विश्वभरके योद्धा धनुष तिलभर हटा भी न सके और उसीको श्रीरामजीने उठाकर तोड़ डाला; अतएव इस जयमालमें 'विश्वविजयश्री' है ही। अतः 'जेहि' पाठ उत्तम है।

गलेमें माला पड़नेवाली है, उनके विषयमें कविने कहा है कि *'मनहु मनोहरता तन छाये'* इसलिये मालाके विषयमें भी कह रहे हैं कि *'बिस्वबिजय सोभा जेहि छाई'।*

नोट—गौड़जी लिखते हैं कि *'मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्हीं', 'बिस्व बिलोचन चोर'* आदिसे मिलान करनेसे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ *'बिस्वबिजय'* से स्वयं घरमें आये हुए सुर, असुर, नाग, मनुष्यादि इन सबोंपर ही विजय नहीं अभिप्रेत है बल्कि भगवान्‌पर भी सीताजीकी विजय, अथवा सीताजीपर भगवान्‌की विजय भी अभिप्रेत है, क्योंकि दोनों ही दशाओंमें विश्वपर ही विजय है।'

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—वीररसका विश्वविजय पहले लिख, अब उसकी शोभा 'शृङ्गारमें' लिखते हैं। अंग्रेजीमें भी कहावत है 'वीर ही सुन्दर जोड़ियाँ पानेके अधिकारी होते हैं।'

टिप्पणी—३ (क) *'तन सकोचु'*' अर्थात् मनमें तो दर्शनका उत्साह है पर शरीरसे संकोच हो रहा है, यथा—*'पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मन सकुचै न'।* (ख) *'गूढ़ प्रेमु'* प्रेम गुप्त किये हुए हैं, लाजके मारे किसीको उसका पता नहीं चल सकता, यथा—*'सियराम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै॥'* (३२३) जनक महाराजका भी गूढ़ प्रेम था, यथा—*'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।'* ये उन्हींकी बेटी हैं, अतः उन्हें भी गूढ़ प्रेम है। (वि० त्रि०) (ग) यहाँ श्रीसीताजीके तन, मन और वचनका हाल कहते हैं। तनमें सकुच है, मनमें उछाह है और वचनसे कुछ कहती नहीं, इसीसे प्रेम गुप्त है। अथवा, वचन कुछ बोलती नहीं, इससे वचनका हाल न कहा। ☞ दो विरोधी भावोंको किस सुन्दरतासे निबाहा है? सच है जो किसीको लख न पड़े उसे कवि (क्रान्ति तथा सूक्ष्मदर्शी) ही देख सकता है।

वीरकविजी—१ *'तन सकोचु'* अर्थात् शरीर लज्जासे सिकुड़ रहा है। मनमें परम उमङ्ग है; किन्तु इस गूढ़ प्रेमको तनके सिकोड़से छिपाना 'अवहित्थ संचारी भाव' है। २-*'रहि जनु चित्र अवरेखी'* में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥ ४॥
चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥ ५॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥ ६॥

शब्दार्थ—**अवरेखना** (सं० अवलेखन)=लिखना, चित्रित करना। यथा—*'सखि रघुबीर मुख छबि देखु। चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु॥'*

अर्थ—सामने पास जाकर श्रीरामजीकी छबिको देखकर राजकुमारी श्रीसीताजी मानो चित्र लिखी-सी रह गयीं। अर्थात् एकटक खड़ी रह गयीं, मानो कोई तसबीर है॥ ४॥ देखकर चतुर सखियोंने समझाकर कहा कि सुन्दर जयमाल पहिना दो॥ ५॥ यह सुनकर उन्होंने दोनों हाथोंसे माला उठायी, प्रेमसे विवश हैं, इससे माला पहनायी नहीं जाती॥ ६॥

श्रीराजारामशरणजी—प्रकाश (छवि) के पास पहुँचनेकी चकाचौंध और फिर शरीरका स्थगित हो जाना कितने स्वाभाविक और सूक्ष्म प्रभाव हैं? हमने तो केवल कहीं-कहीं संकेत किये हैं, नहीं तो यदि सारे भावोंकी व्याख्या की जाय तो ठिकाना ही न लगे।

टिप्पणी—१ (क) *'जाइ समीप।'* भाव कि पुष्पवाटिकामें दूरसे देखा था, यथा—*'लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥',* इसीसे वहाँ चन्द्र-चकोरीका दृष्टान्त दिया था—*'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥'* चकोरीको चन्द्रमा दूर पड़ता है। दूरसे देखा तब देह चकोरीको-सी हो गयी और जब पाससे देखा तब तसबीरकी-सी रह गयीं। समीप और दूरसे देखनेमें इतना अन्तर दिखाया। अत्यन्त निकट होनेसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुन्दरतापर दृष्टि पड़ी। (ख) **'रहि'**=रह गयी। भाव कि आयी थीं जयमाल पहिनाने सो भूल गयीं। (ग) *'चित्र अवरेखी'* इति। चित्रलिखित मूर्ति जड़ होती है, वैसे

ही जड़वत् हो गयीं। ☞ स्मरण रहे कि श्रीरामजीको देखकर सब लोग चित्र-लिखे-से हो गये थे, यथा—*'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखेसे देखि।'* वैसे ही जानकीजी भी उनको देखकर चित्रलिखी-सी हो गयीं। जो सबकी दशा हुई वही इनकी भी हुई। रामरूप ऐसा ही है, उसे देखकर सबकी दशा ऐसी ही हो जाती है। (घ) *'अवरेखी'* 'लिख अक्षरविन्यासे', लिख धातुका अर्थ अक्षर विन्यास (अक्षरका फेंकना अर्थात् लिखना) है। लिख धातुसे अवलेख हुआ, रकार-लकारको सावर्ण्य मानकर अवरेखी कहा। (ङ) जड़दशा प्रेमकी अवधि है। सबकी यह दशा कही तो इनकी क्यों न कहते हैं?

टिप्पणी—२ (क) *'चतुर सखीं लखि कहा बुझाई'* इति। प्रेम गूढ़ है, इससे सखी प्रेमको न लख पायी, जब प्रेमकी दशा देखी कि चित्रलिखी-सी हो गयीं तब लखा। *'बुझाई'* का भाव कि प्रेममें श्रीजानकीजीके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी विस्मरित हो गये, यथा—*'परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥'* इसीसे देह-सुध न रह गयी, यथा—*'तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन-की, कहाँते आई, कौन काज, काके ढिग, कौन ठाउँ को हैं॥'* (गी० ७। ४। ६) जानकीजीकी दशा लखी इसीसे सखीको चतुर कहा। (ख) *'जयमाल सुहाई'* का भाव कि यह सौन्दर्यावधि श्रीरामजीको भी शोभित करनेवाली चीज है। अथवा श्रीरामजी इसको पहिननेके योग्य हैं। अतः सुहाई कहा। वा, श्रीरामजीसे धनुष टूटा, इससे मालाकी शोभा बनी रह गयी, अतः सुहाई कहा। धनुष न टूटता तो उसकी शोभा न थी।

टिप्पणी—३ (क) *'सुनत जुगल कर माल उठाई'।* भाव कि एक हाथसे माला नहीं पहनाते बनती, इसीसे दोनों हाथसे उठाया। पुनः भाव कि प्रेममें इतनी शिथिल हुई कि एक हाथसे माला नहीं उठती, अतः दोनों हाथोंसे उठायीं। (प्रायः दोनों हाथोंसे माला पहिनायी जाती है। दोनों हाथोंमें लिये हैं। श्रीरामजीको पहनानेके लिये उनके सिरतक हाथोंको उठाना जरूरी है, अतः माला हाथोंसे ऊपर उठाकर ले गयीं।) (ख) *'प्रेम बिबस पहिराइ न जाई'* इति। प्रथम तो जयमाल पहनानेकी ही सुध न रह गयी थी, सखीके कहनेपर सुध हुई तब पहिनानेके लिये माला उठायीं तो अब प्रेमविवश होनेसे पहिनायी नहीं जाती। (ग) 'सुनते ही' जयमाल उठानेका भाव कि जानकीजीने सोचा कि यदि हम शीघ्र माला न उठावेंगी तो सखियाँ हमारा प्रेम लख लेंगी, अभी तो लज्जावश प्रेमको छिपाये हुए हैं। प्रेममें अंग शिथिल हो जाते ही हैं, यथा—*'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सिथिल सनेह सब रानी॥'* इसीसे माला पहिनायी नहीं जाती। आगे इसीकी उत्प्रेक्षा करते हैं।

श्रीयुत लाला भगवानदीनजी—गोस्वामीजीने यहाँ प्रेमके स्तम्भ और कम्प दो भावोंका दर्शन किया है। या तो हाथ काँपने लगा इससे न पहिना सकीं, अथवा हाथ स्थगित होकर रह गये। किसीका यह भी मत है कि इस समय सीताजी ६ वर्षकी हैं और रामजी १५ वर्षके हैं; अतः सीताजीका हाथ उनके सिरतक नहीं पहुँचता। वे खड़ी हैं कि वे सिर झुकावें तो हम माला डाल दें और वे सिर झुकाते नहीं, ये प्रेमकी बातें हैं।

वि० त्रि०—प्रेमाधिक्यसे अंग शिथिल हैं, पहनाना चाहती हैं, पहनाते नहीं बनता। उधर *'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहू न लखा देख सब ठाढ़े॥'* इस लाघवमें ही शोभा थी, इधर जयमाल पहनानेकी मन्थरतामें ही शोभा है, सब लोग देख लें पहनानेकी शोभा।

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'कविने साफ लिख दिया है कि 'प्रेमविवश होनेके कारण स्थगित हैं। तुलसीदासजीके वर्णनसे ६ वर्षकी अवस्था कदापि जान नहीं पड़ती, किसी अन्य रामायणकी बात हम कह नहीं सकते। *'कुँअरि'* शब्द बड़ा ही सुन्दर है और बताता है कि यह भाव संकोच और भय प्रारम्भिक प्रेमावस्थाके हैं स्थायी नहीं।'

सोहत जन जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥ ७॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेलीं। सिय जयमाल राम उर मेलीं॥ ८॥

अर्थ—(हाथमें माला उठाये हुए उनके हाथोंकी शोभा ऐसी हो रही है) मानो डंडीसहित दो कमल

डरते हुए चन्द्रमाको जयमाल दे रहे हों॥ ७॥ छबिको देखकर सखियाँ गाने लगीं, श्रीसीताजीने श्रीरामजीके गलेमें जयमाला डाल दी॥ ८॥

नोट—१ श्रीसीताजी जयमाल लिये हाथ उठाये खड़ी हैं, उसपर उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो नालयुक्त दो कमल चन्द्रमाको डरते हुए जयमाल पहिना रहे हैं। चन्द्रमासे भयभीत होना और उसकी विजय स्वीकार करना प्राकृतिक है। यहाँ दोनों भुजाएँ (बाहुदण्ड) कमलकी नाल (डंडी) हैं, हथेली कमल हैं, अंगुलियाँ कमलदल हैं, भुजाओंका स्तम्भित होना कमलका सभीत होना है (हाथोंमें जयमाल होनेसे हाथ संकुचित हैं। चन्द्रमाके सामने कमल संकुचित हो ही जाता है), श्रीरामजीका मुख चन्द्रमा है। दो कमल मानो चन्द्रमाको जयमाल भेंट दे रहे हैं, चन्द्रमाके सम्मुख माला लिये खड़े हैं इस तरह जयमाल देकर मिलाप करना चाहते हैं। (पं० रा० कु०) यहाँ असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा' है। क्योंकि यह दृश्य कविकी कल्पनामात्र है। जगत्में ऐसा दृश्य दिखायी नहीं देता। कमलका डरना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह जड़ है।' (वीरकवि)

नोट—२ श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'चन्द्रमा और कमलके प्रसंगमें ***'सभीत'*** शब्द कितना सुन्दर है, पर है उत्प्रेक्षा ही। वास्तविक कारण न तो अभी श्रीसीताजीके हृदयमें स्पष्ट हुआ है न कवि ही बताता है, केवल सुन्दर बहिरंग चित्र देता है कि कमलस्वरूपी हाथ चन्द्रमारूपी रामके पास जानेसे भयभीत हैं। वास्तविक कारण तो आगे व्यक्त होगा कि अहल्याका खयाल आया कि कहीं वैसे ही हमें भी फिर वियोग न हो कि स्पर्शसे दिव्य लोक चले जाना पड़े।'

टिप्पणी—१ (क) चन्द्रमाके सामने कमलकी शोभा नहीं रह जाती, इससे पाया गया कि जानकीजीके हस्तकमलकी शोभा न रह गयी, इस दोषके मिटानेके लिये कहते हैं कि हस्तकमल ***'सोहत'*** हैं। ***'सोहत'*** से सूचित करते हैं कि श्रीजानकीजीने पाँचों अँगुलियाँ संपुटित करके जयमाल नहीं पहिनाया, क्योंकि संपुटित कमलकी शोभा नहीं होती। तीन ही अंगुलियोंसे उठाकर उन्होंने जयमाल पहिनाया और सब अंगुलियाँ खुली रहीं। इसीसे विकसित कमलकी तरह हाथ शोभित हैं। हाथ जड़ (सरीखे) हो गये हैं इसीसे बेलिकी उपमा दी। युग कमल प्रेमसे जयमाल लेकर चन्द्रमासे मिले, इसीसे चन्द्रमा प्रसन्न हो गये और कमलको संपुटित न किया, वैसा ही विकसित रहने दिया। (ख) ***'सभीत'*** का भाव कि कमल भयसहित चन्द्रमाकी शरणमें आया। भयसहित शरणमें जानेसे अभयत्व प्राप्त होता है। इसीसे शरणागतिमें भयसहित शरणमें जानेकी आवश्यकता बतायी गयी है। यथा—***'जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥'*** ***'जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥'*** इत्यादि। सभीत जल्दी शरणमें नहीं जाता, वैसे ही प्रेमसे शिथिल हाथ जल्दी नहीं उठते।

टिप्पणी—२ ***'गावहिं छबि'''*** इति। (क) सखियोंके कहनेसे जयमाल उठाया तो, पर प्रेमविवश होनेसे पहिना न सकीं, तब सखियोंने यह विचार कर कि हमारे दुबारा कहनेसे उनको संकोच होगा वे समझ जायँगी कि उनके गुप्त प्रेमको हमलोगोंने लख लिया, फिर जयमाल गलेमें पहिनानेको न कहकर बड़ी चतुरतासे जयमाल पहिनानेके गीत गाने लगीं। यथा—***'जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहि कछु मन सकुचानी॥'*** गानेके बहाने जानकीजीको इशारा कर दिया कि माला पहिना दें। गीत सुनते ही वे आशय समझ गयीं और उन्होंने जयमाल पहिना दी।—यह अभिप्राय दरसानेके लिये प्रथम गाना कहकर तब माला पहिनाना लिखा। (ख) ***'छबि देखि'*** गावहिका भाव कि अभी जयमाल पहिनाया नहीं गया है, यदि जयमाल पहिना दी होती तो जयमाल देखकर गान करना लिखते, जैसा देवताओंके सम्बन्धमें लिखते हैं, यथा—***'रघुबर उर जय माल देखि देव बरषहिं सुमन।'*** (ग) ***'राम उर मेली'*** कहकर जनाया कि भगवान् रंगभूमिमें टोपी देकर आये हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि हम धनुष तोड़ेंगे, हमारे जयमाल पड़ेगा। यथा—***'पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई।'*** यदि मुकुट धारण करके आते तो माला जल्दी पहनाते न बनती, मुकुटमें अटक जाती। और ***'सिय जयमाल राम उर मेली'*** से ज्ञात होता है कि बहुत जल्द पहिना दी।

लमगोड़ाजी—कैसे मजेकी युक्ति है। हिन्दूघरानेमें इसीसे प्रत्येक प्रसंगपर सरस गीत गाये जाते हैं।

वि० त्रि०—*'सिय जयमाल राम उर मेली'* इस पुरइनसे कली निकली *'जयमाल राम उर'*, अब यह कमलरूपसे आगेके दोहेमें विकसित होगी।

सो०—रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥ २६४॥

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीके हृदयपर जयमाल देखकर देवता फूल बरसाने लगे। सब राजा लोग सकुच गये (ऐसे दीखते हैं) मानो सूर्यको देखकर कुमुदोंका समूह संकुचित हो गया है॥ २६४॥

टिप्पणी—१ ये *'रघुबर'* हैं, रघुकुलके श्रेष्ठ वीर हैं, इस जयमालके योग्य ही हैं, अतः उनके उरमें जयमाल देख योग्यता विचार और वीरोंमें उनकी जय देखकर देवताओंने फूल बरसाये। जब धनुष टूटा तब फूल और मालाएँ बरसायी थीं। *'बरिसहिं सुमन रंग बहु माला।'* (२६२। ६) और अब जयमाल पड़नेपर फिर फूल बरसाये। दोनों बातें अलग-अलग समयमें हुईं और दोनों उत्सवके समय हैं, अतः दोनों समय पुष्पोंकी वृष्टि की। *'समय समय सुर बरिसहिं फूला'* यह पूर्व ही कह आये हैं। २—*'सकुचे सकल भुआल'''* इति। श्रीरामजीके हृदयपर जयमालकी अत्यन्त शोभा हो रही है, यथा—*'सतानंद सिख सुनि पायँ परि पहिराई, माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है। मानस तें निकसि बिसाल सुतमालपर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है॥ ४॥ हितनिके लाहकी उछाहकी बिनोद-मोद सोभाकी अवधि नहिं अब अधिकाई है''' छबि तेहि कालकी कृपालु सीता दुलहकी हुलसति हिये तुलसीके नित नई है॥'* (गी० १। ९६। ४—६) यह शोभा देख देवता तो खुशी मनाने लगे और दुष्ट राजा सूख गये। उनकी दशा *'जनु बिलोकि रबि कुमुदगन'* कहकर दिखा रहे हैं। यहाँ एक ही वस्तुसे दो भिन्न-भिन्न विरोधी कार्योंका होना 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है और उक्त-विषयावस्तूत्प्रेक्षा तो है ही। ३—*'जनु बिलोकि'* कहनेका भाव कि पूर्व श्रीरामजीका आगमन सुनकर राजा लोग कुमुद-समान सकुचे थे, यथा—*'अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन। तिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन॥'* (२३८) और अब देखकर सकुचे, कारण कि वहाँ अरुणोदय था और यहाँ सूर्यका प्रभायुक्त उदय है।,(अर्थात् उनका प्रताप पहले सुना था, सुनकर सकुचे थे और अब प्रत्यक्ष उनका प्रताप देख लिया कि इन्होंने धनुषको तोड़ डाला और विश्वविजयकी जयमाला पहने हुए हैं।)

वि० त्रि०—कमल खिला *'रघुबर उर जयमाल'* इत्यादि। देवता ऊपरसे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं, परंतु करकमल नहीं खिले, पहनानेपर भी जयमाल हाथसे छूटा नहीं, चन्द्रके सामने खिले भी कैसे? अतः अब कवि रामजीको *'रबि'* रूपसे वर्णन करते हैं, जिसमें कमलका खिलना अर्थात् 'मालाका हाथसे छूटना द्योतित हो'।

पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। खल भये मलिन साधु सब राजे॥ १॥
सुर किंनर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥ २॥
नाचहिं गावहिं बिबुध* बधूटीं। बारबार कुसुमांजलि छूटीं॥ ३॥

अर्थ—नगर और आकाशमें बाजे बजे। दुष्ट लोग उदास हो गये और सब साधु लोग (संत-स्वभाववाले) शोभित अर्थात् प्रसन्न हुए॥ १॥ देवता, किन्नर, मनुष्य, नाग और मुनीश्वर 'जय हो! जय हो! जय हो!' ऐसा कह-कहकर आशीर्वाद दे रहे हैं॥ २॥ देवाङ्गनाएँ नाचती और गाती हैं। बारम्बार फूलोंकी अञ्जलियाँ छूट रही हैं अर्थात् पुष्पाञ्जलियाँ अर्पण की जा रही हैं, अञ्जलीमें फूल भर-भरकर छोड़ रहे हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) देवताओं और मनुष्योंके बाजे बजे, देवताओंने फूल बरसाये, मनुष्योंने निछावर लुटाई, अप्सराएँ नाची-गायीं, ब्रह्मादिकने स्तुति की, बंदी-मागध आदिने बिरदावली गायी, इत्यादि। वह उत्सव तब बंद हुआ जब जानकीजी जयमाल पहनाने लगीं। सेवकलोग छबि देखकर देह-सुध भूल गये। जब जयमाल पड़ गया तब उत्सव फिर होने लगा। (ख) जब धनुष टूटा तब *'बाजे नभ गहगहे निसाना।*

* सं० १६६१ में विविध है।

देवबधू नाचहिं करि गाना॥''गावहिं किंनर गीत रसाला' अर्थात् प्रथम देवताओंके बाजोंका बजना, देवाङ्गनाओं इत्यादिका गाना-नाचना लिखा गया, उसके पीछे *'झाँझि मृदंग संख सहनाई।''बाजहिं बहु बाजने सुहाये।'* इत्यादि पुरवासियोंका बाजा बजाना-गाना इत्यादि लिखा गया और यहाँ जयमाल पड़नेपर प्रथम पुरमें बाजे बजे तब आकाशमें, यह बात *'पुर'* शब्द प्रथम रखनेसे ज्ञात हुई। यह भेद भी साभिप्राय है। धनुष-भंग होनेपर देवता पहले सचेत हुए, इससे वे तुरत बाजे बजाने और उत्सव मनाने लगे। मनुष्य पीछे सचेत हुए, क्योंकि वे देवताओंके समान दृढ़ नहीं होते और जयमाल पड़नेपर उधर देवता फूल बरसाने लगे—*'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन,'* इधर बाजे बजने लगे। इसीसे बाजे बजनेमें यहाँ इनको प्रथम कहा। [प्र० सं०— यहाँ सब मनुष्य (पुरवासी) समीप हैं। इन्होंने जयमाल प्रथम देखा, इससे देवता फूल बरसानेमें ही लगे थे कि यहाँ बाजे भी बजने लगे। इससे यहाँ *'पुर'* को प्रथम कहा।] (ग) देवता श्रेष्ठ हैं, इससे दोनों जगह देवताओंका उत्सव लिखा। (घ) *'बाजने बाजे'।* यहाँ बाजोंके नाम नहीं दिये, क्योंकि धनुष टूटनेपर झाँझ, मृदंग आदि नाम दे आये हैं, वही यहाँ भी बजे। (ङ) *'खल भये मलिन साधु सब राजे'* इति। प्रथम कहा था कि *'सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन।'* 'सकलमें उत्तम, मध्यम और अधम वा साधु और असाधु सब ही आ जाते हैं, इसीसे यहाँ उसका ब्योरा करते हैं कि खल मलिन हुए, कुमुदकी तरह संकुचित हो गये, साधु राजा मलिन नहीं हुए, ये तो कमल-समान शोभित हो रहे हैं, यथा—*'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥ ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे॥'* (१। २३९) ये सब सुखी हुए।* *'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति'* अतः वे मलिन हुए, और *'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई'* होते हैं, अतः वे शोभित हुए। (वि० त्रि०) यहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है।

टिप्पणी—२ (क) *'सुर किन्नर'* से स्वर्ग, *'नर'* से मर्त्य और *'नाग'* से पाताल, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंका प्रभुको आशीर्वाद देना कहा। (ख) देवताओंका फूल बरसाना प्रथम ही कह चुके—*'रघुबर उर जयमाल''देव बरिसहिं सुमन।'* (२६४) जय-जयकार करना, आशीर्वाद देना बाकी था, उसे अब कहते हैं। जय बोलने आदिका अधिकार सभीको है, इसीसे जय बोलना, आशीर्वाद देना सुर-नर-मुनि सभीका लिखते हैं। (ग) प्रथम बार देवता आदिने श्रीरामजीकी प्रशंसा करके आशीर्वाद दिया था, यथा—*'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥'* और इस बार जय बोलकर आशीर्वाद देते हैं। कारण कि धनुषभंगपर प्रशंसाका समय था, धनुष किसीसे न टूटा था, इसलिये उसके टूटनेपर बलकी प्रशंसा की और जयमाल पड़नेपर जय-जयकारका समय था, इसीसे यहाँ 'जय' बोलकर आशीर्वाद दिया। *'जय'* शब्दमें आदरकी वीप्सा है। अनेक उपमेयोंका एक धर्म *'जय जय''* कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता' है।

टिप्पणी—३ (क) *'बिबुध बधूटी'* इति। बिबुध शब्द देकर जनाया कि देवताओंमें जो विशेष पण्डित हैं उनकी ये वधू हैं, अतः नाच-गानमें ये भी बड़ी पण्डिता (कुशला) हैं। पूर्व *'देवबधू नाचहिं करि गाना'* में *'देव'* शब्द देकर इनके स्वरूपकी विशेषता कह आये। 'दीव्यतीति देवः'। देवता दिव्य हैं। ये उनकी स्त्रियाँ हैं अतः ये भी दिव्य हैं, स्वरूपसे सुन्दरी हैं और *'नाचहिं गावहिं'* से उनके गुणकी दिव्यता कही। [देववधुओंका ही गाना-नाचना कहा, अप्सराओंका गाना-नाचना नहीं कहा। मंगलगान कुलवधूहीद्वारा होता है, वेश्याद्वारा आज भी नहीं होता। अप्सरा स्वर्वेश्या हैं, अतः मंगलगान उनके द्वारा नहीं लिखते। (वि० त्रि०)] (ख) *'बार बार कुसमांजलि छूटीं'* इति। देवनाङ्गनाएँ नाचती, गाती

---

* शंका—त्रेतामें खल नहीं होते, यथा—'ऐसे अधम मनुज खल सतजुग त्रेता नाहिं।' तब त्रेतामें 'खल' कैसे कहा? समाधान यह है कि सब त्रेतायुगोंमें खल नहीं होते। जिस कल्पमें रावण होता है उसीके त्रेतायुगमें खल होते हैं, यथा—'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा।''' राजाके अनुकूल युगका धर्म बदलता है। रावणराज्यमें त्रेता कलियुगसमान हो गया, वही रामराज्यमें सत्ययुग हो गया, यथा—'ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ सतयुग कै करनी॥' (पं० रामकुमारजी)

और कुसुमाञ्जलि छोड़ती हैं। बार-बार पुष्पाञ्जलि अर्पण करनेका भाव यह कि जब-जब गीत पूरी होती है और भजन (गीतका पद) पूरा होता है तब-तब पुष्पाञ्जलि छोड़ती हैं। नाचने-गानेके पश्चात् पुष्पाञ्जलि छोड़ना लिखकर यह भाव सूचित किया। पुष्पाञ्जलि देना विधि है। (ग) देवताओंका फूल बरसाना प्रथम लिख आये। इनका नाचना-गाना पीछे कहा; इससे तभी पुष्पाञ्जलि देना भी कहा। [(घ) पाँड़ेजीका मत है कि 'इनके सिरके बालोंमें कुसुमावली (फूलोंके गुच्छे) गुहे वा गुँथे हुए हैं। जब ये नृत्य-गायनमें मग्न हो जाती हैं तब वही कुसुम छूट-छूट पड़ते हैं। अतः 'बार-बार' कहा। '*बधूटी*' कहकर थोड़ी अवस्थावाली जनाया।']

जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं॥ ४॥
महि पातालु नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥ ५॥
करहिं आरती पुर नर नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥ ६॥

शब्दार्थ—**नाक**=स्वर्ग। **वित्त**=धन, सम्पत्ति।

अर्थ—जहाँ-तहाँ ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे हैं, भाट लोग विरदावली (वंश-यश-उच्चारण) कर रहे हैं॥ ४॥ पृथ्वी, पाताल और आकाशमें यश व्याप (फैल, समा) गया कि 'श्रीरामजीने श्रीसीताजीको ब्याहा, धनुषको तोड़ा'॥ ५॥ नगरके स्त्री-पुरुष आरती उतार रहे हैं और अपनी धन-सम्पत्तिको भुलाकर निछावर कर रहे हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) '*जहँ तहँ*...।' देवताओंका उत्सव कहकर अब मनुष्योंका उत्सव कहते हैं। वेदध्वनि सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे प्रथम वेदध्वनि लिखी। धनुष-भङ्गके पीछे जो उत्साह हुआ उसमें वेदध्वनिका होना न लिखा और जयमाल पड़नेपर वेदध्वनिका होना लिखते हैं, कारण कि जयमाल पड़ना एक प्रकारका विवाह है और विवाहके समय वेदध्वनि हुआ करती है, अतः यहाँ वेदध्वनि कही गयी। (ख) '*जहँ तहँ*' का भाव कि रंगभूमिमें जहाँ जयमाल गलेमें छोड़ा गया उस जगह जाकर वेदध्वनि नहीं की, किन्तु जो जहाँ बैठे हैं वहींसे वेदध्वनि करने लगे। (भाँवरीके समय विप्र एकत्र होकर वेदध्वनि करते हैं। यहाँ भाँवरी नहीं हो रही है; इससे यहाँ सबके एकत्र होनेकी आवश्यकता नहीं।) सुर, किन्नर, नर-नाग और मुनीश्वर आशीर्वाद देते हैं, यह कहकर ब्राह्मणोंका वेदध्वनि करना लिखकर जनाया कि ब्राह्मणलोग वेदमन्त्रोंसे आशीर्वाद देते हैं, यथा गीतावलीमें, '*निज निज बेदकी सप्रेम जोग-छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषनि दई है॥*' (१। ९४) (ब्राह्मणलोग स्वस्तिवाचनके मन्त्र बोले। मन्त्रोंके साथ स्वर लगता है, अतः वेदध्वनि कहा। वि० त्रि०) (ग) '*बंदी*'। पूर्व यश उच्चारण करनेवालोंके नाम दे आये—'*बंदी मागध सूत गन बिरुद बदहिं मति धीर॥*' (२६२) यहाँ आदिका एक नाम '*बंदी*' देनेसे अन्य सबोंका भी ग्रहण हो गया।

टिप्पणी—२ '*महि पाताल नाक जसु ब्यापा*......'। इति। (क) भाव कि धनुष तोड़कर श्रीजानकीजीको ब्याहनेका सामर्थ्य तीनों लोकोंमें किसीको न था। ऐसा भारी कठिन काम श्रीरामजीने कर दिखाया, यह भारी बात है; इसीसे तीनों लोकोंमें यश छा गया। मृत्युलोकमें धनुष टूटा, इसीसे प्रथम '*महि*' को कहा। तीनों लोकोंमें यश कैसे व्यापा सो कहते हैं—'*राम बरी सिय भंजेउ चापा।*' अर्थात् जब रामजीने धनुष तोड़ा तब धनुष-भङ्गका शब्द तीनों लोकोंमें गूँज उठा। '*रबि बाजि तजि मारग चले*' इससे स्वर्गमें, '*डोल महि*' इससे पृथ्वीमें और '*कोल कूरम कलमले*' इससे पातालमें यश व्याप्त हो गया। सबको मालूम हो गया कि रामजीने धनुष तोड़ा और सीताजीको ब्याहा। [वा तीनों लोकोंके लोग यहाँ एकत्रित हैं, इससे सर्वत्र यशका व्याप्त होना कहा। (प्र० सं०) कारण-कार्य एक साथ होना 'अक्रमातिशयोक्ति' है—(वीर)।]

श्रीराजारामशरणजी—याद रहे कि यह कविका वर्णन है। यह आवश्यक नहीं है कि पुरवासी, देवताओं

इत्यादिको स्पष्ट देख रहे हैं। टेनिसनने भी (Duke of Wellington) ड्यूक आफ वेलिंगटनके अन्तिम संस्कारके सम्बन्धवाली कवितामें लिखा है कि 'मनुष्ययोनिसे श्रेष्ठ योनिवाली व्यक्तियाँ भी होंगी ही'।

टिप्पणी—३ (क) *'करहिं आरती पुरनरनारी।'* पुरनरनारी आरती करते हैं, देवता नहीं; क्योंकि देवताओंके समीप आनेसे श्रीरामजीका ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है,। यथा *'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।'* राजा लोग आरती नहीं करते, क्योंकि उनको अधिकार नहीं है। पुरवासियोंको आरतीका अधिकार है। धनुष टूटे बिना पुरवासी अत्यन्त आर्त हो रहे थे। श्रीरामजीने उनके आर्तिको दूर किया इसीसे वे आरती करते हैं, यथा—*'करहिं आरती आरतिहर की'।* किसकी आरती करते हैं यह आगे कहते हैं *'सोहति सीयराम कै जोरी'।* जोड़ीको देखकर आरती करते हैं। (ख) *'करहिं निछावरि'।* जब धनुष टूटा तब निछावर किया पर आरती नहीं की थी (विचारा होगा कि जब जयमाल पड़ेगा और दोनों एकत्र होंगे तब आरती करेंगे। अतएव) जब जयमाल पड़ा और श्रीसीतारामजी एक ठौर हुए तब आरती की और आरतीके पीछे निछावर होती है, सो भी की। (ग) *'बित्त बिसारी'* का भाव कि मारे आनन्दके धनका लोभ नहीं (अपने सामर्थ्यसे बाहर, अपने धनकी मर्यादाका ध्यान छोड़कर) अपने *'बित्त'* से अधिक निछावर करते हैं (यह विचार नहीं रह गया कि मैं कितना निछावर कर सकता हूँ, इतना निछावर कर देनेसे मेरी हानि होगी।)

सोहत सीय राम कै जोरी। छबि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी॥ ७॥
सखीं कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरन परस अति भीता॥ ८॥

अर्थ—श्रीसीतारामजीकी जोड़ी ऐसी शोभित हो रही है मानो छबि और शृङ्गार एक ही जगह एकत्र हो गये हैं॥ ७॥ सखियाँ कहती हैं—'सीता! प्रभुके चरणोंको पकड़ो (अर्थात् छुओ)' पर वे अत्यन्त भयके कारण चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं॥ ८॥

नोट—प्रोफे० श्रीदीनजी कहते हैं कि 'श्रीसीतारामजीकी जोड़ी एकत्र होनेपर इस प्रकार शोभित है मानो छबि (कान्ति, चमक-दमक) और शृङ्गाररस (श्यामवर्ण) एकत्र हो गये हों। अर्थात् कान्ति और श्यामताका एकत्र होना असम्भव-सी बात है, वही बात गोस्वामीजीने उत्प्रेक्षाद्वारा प्रकट की है। असम्भवको सम्भव कर दिखाया, उजियारी और अँधेरी एकत्र नहीं हो सकतीं, पर यहाँ एक ठौरी हैं, यह अद्भुतता है।'

टिप्पणी—१ (क) *'जोरी'।* 'जोड़ी कहनेका भाव कि जैसी श्रीरामजीकी शोभा है वैसी ही श्रीजानकीजीकी शोभा है। (ख) *'छबि सिंगारु मनहुँ'* ' मनहुँ कहनेका भाव कि छबि और शृङ्गारके देह नहीं है। इसीसे कहा कि मानो देह धरकर मूर्तिमान् होकर एक ठौर एकत्र हुए हैं। तात्पर्य कि श्रीसीतारामजी छबि-शृङ्गारकी मूर्ति हैं। यहाँ यथासंख्यालङ्कार है। श्रीसीताजी छबि हैं और रामजी शृङ्गार हैं। यथा *'जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप', 'छबिगन मध्य महाछबि जैसी'।* सीताजी गौरवर्णा हैं और छबिका वर्ण भी उज्ज्वल है, श्रीरामजी श्याम हैं और शृङ्गार भी श्याम है, यथा '**स्यामो भवति शृङ्गारः**' इति भरतः। (ग) *'मनहुँ एक ठौरी'* का भाव कि छबि और शृङ्गार पृथक्-पृथक् भी सोहते हैं और जब वे एक ठौरपर हो गये तब भला उनकी शोभा कौन कह सकता है? [इसके पहले जोड़ी नहीं कह सकते थे, *'रामरूप अरु सिय छबि देखी'* कहा था। यहाँ जनकपुर है इसलिये *'सीय राम की जोड़ी'* कहा, यहाँ सीताजीकी प्रधानता है। छबिसे शृङ्गारकी और शृङ्गारसे छबिकी शोभा होती है, दोनोंके एकत्र होनेसे महाशोभा हुई—(वि० त्रि०)] (घ) आरती और छबि वर्णनका सम्बन्ध है। जयमालके पीछे जब आरती हुई। उस समय श्रीरामजानकीजीकी बड़ी भारी छबि हुई, इसीसे आरतीके पीछे भारी छबि वर्णन की। पुनः आरतीके पीछे छबि वर्णन करके यह भी जनाया कि आरती करते समय छबि वर्णन करते जाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) जयमाल पहिनाकर प्रणाम करना चाहिये, अतः कहा कि *'प्रभुपद गहु।' 'सखीं'* बहुवचन है। सखियाँ जानती हैं कि लज्जाके मारे चरणका स्पर्श नहीं करती हैं, इसीसे बहुत सखियोंने कहा। अथवा, सब सखियोंका प्रेम श्रीरामजीमें है इससे सबने उनके चरण छूनेको कहा। [श्रीसीताजी

सब कृत्य जानती हैं कि कब क्या करना चाहिये। पर वस्तुतः रीति यह है कि जैसे पुरोहित किसी भी धार्मिक कार्यमें बताता है कि अब यह कीजिये तब यजमान उस कर्मको करता है, वैसे ही यहाँ सखियाँ साथ हैं, उनका यही कर्तव्य है कि वे एक-एक कार्य बताती जायँ और तब ये करें। सखियोंने जब जयमाल पहनानेका समय देखा तब कहा कि '***पहिरावहु जयमाल सुहाई***' और उन्होंने जयमाल पहनाया। वेदध्वनि आदि होने लगी, आरती की गयी, निछावरें लुटायी गयीं, तब सखियोंने चरण पकड़कर प्रणाम करनेका समय जान वैसा करनेको कहा। जैसी लोकरीति है, आचार-व्यवहार है, वैसा ही बर्ता गया। इसी तरह जब सखियोंने उनको लौटा ले जाना ठीक समझा तब माताके पास लिवा गयीं। (रा० वा० दा० मालवीय) (ख) '***प्रभुपद***'—बड़ा पुरुषार्थ किया है, अतः '***प्रभुपद***' दिया। जिनका भगवान्‌के चरणोंमें अत्यन्त प्रेम और भक्ति है वे चरणस्पर्श करते हैं, यथा—'***गहे भरत पुनि प्रभुपद पंकज***', '***परेउ दंड इव गहि पद पानी॥***' (इति मनुः), '***प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना॥***' (श्रीहनुमान्‌जी), इत्यादि। अतः प्रभुका पद पकड़नेको कहती हैं। (बैजनाथजी लिखते हैं कि 'सखीने चरण पकड़नेको इसलिये कहा कि पतिके चरण सर्वदेवतीर्थमय हैं। अथवा, यह शास्त्राज्ञा है कि पतिव्रता जब पतिके सामने जाय तो हाथ जोड़कर प्रणाम करे।') (ग) '***करति न चरन परस॥***' सखियाँ पद '***गहने***' को कहती हैं। गहना पकड़नेको कहते हैं। श्रीजानकीजी तो पकड़नेकी कौन कहे, छूती भी नहीं। (अथवा एक चरणमें '***गहना***' और दूसरेमें स्पर्श न करना कहकर उसका अर्थ यहाँ 'स्पर्श करना' जनाया) चरण न छूनेका कारण '***अति भीता***' कहा। क्या भय है, यह दोहेमें कहते हैं—'***गौतमतिय***''॥' इतनेपर भी श्रीजानकीजी-ने चरण नहीं ही छुआ, प्रणाममात्र किया, यह गीतावलीसे स्पष्ट है। यथा—'***सतानंद-सिख सुनि पाँय परि पहिराई, माल सिय पिय-हिय सोहत सो भई है॥***' (१। ९६। ४)[वीरकविजी लिखते हैं कि '***अति भीता***' में गुणीभूत व्यंग्य है कि हाथोंमें रत्नजड़ित अँगूठियाँ पहने हूँ, वे कहीं स्त्री न हो जायँ।]

दो०—गौतमतिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि।
मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥ २६५॥

अर्थ—गौतमकी स्त्रीकी गति स्मरण कर चरणको हाथसे स्पर्श नहीं करतीं। श्रीरघुकुलभूषण रघुनाथजी उनका अलौकिक (अप्राकृत) प्रेम जानकर मनमें हँसे॥ २६५॥

टिप्पणी—१ (क) गौतमतिय कहनेसे अहल्याका अच्छी तरह बोध हो गया। केवल अहल्या कहनेसे भ्रम होता कि किस अहल्याकी गतिका स्मरण किया। अहल्या संसारमें बहुत हैं। गौतम ऋषि प्रसिद्ध हैं, इनमें भ्रम नहीं हो सकता। अतः '***गौतमतिय***' पद दिया। (पं० रामकुमारजी) (ख) गौतमतियकी गति कैसे जानी? इस तरह कि किसी सखीका वचन है कि '***परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥***' यह वचन सर्वत्र फैल गया। किसीने जानकीजीसे कहा होगा कि '***परसत पदपावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही***' इसीसे हाथसे नहीं छूतीं।

टिप्पणी—२ '***गौतमतिय गति***' इति। (क) '***गौतमतिय***' अहल्या पाषाणसे दिव्य स्त्री हो गयी और पतिलोकको गयी; यह अहल्याकी गति हुई। इसको याद करके चरण नहीं छूतीं अर्थात् सोचती हैं कि इन चरणोंका प्रभाव भारी है, कहीं हमको भी किसी दिव्य लोकमें न भेज दें तो हमारा श्रीरामजीसे वियोग हो जाय। बड़े भाग्यसे श्रीरामजी हमें मिले हैं। अथवा, (ख) हमारे हाथके आभूषणोंमें अनेक मणि लगे हैं, चरणके स्पर्शसे यह सब अनेक स्त्रियाँ न हो जायँ जो हमारे पूर्ण सुखकी भागिनी बनें। पुनः, (ग) '***गौतमतिय गति***' से यह भी भाव निकलता है कि 'गौतमके शापसे अहल्या पाषाण हो गयी थी और गौतमजीकी अनुग्रहसे रामजीके चरणका स्पर्श हुआ जिससे वह पुनः दिव्य स्त्री हो गयी। इसी तरह हमारे हाथकी मणि भी कदाचित् किसी मुनिकी स्त्री हो और उसे उनका शाप रहा हो कि तुम पाषाण हो जाओ; फिर अनुग्रह हुई हो कि जब श्रीजानकीजी श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श करेंगी तब तुम पुनः स्त्री हो जाओगी

और तुमको श्रीरामजीकी प्राप्ति होगी। अथवा, (घ) हमको ही किसी मुनिकी शाप अनुग्रह हुई हो कि जब तुम श्रीरामजीके चरण छुओगी तब तुमको दिव्य लोक मिलेगा, पतिसे वियोग होगा इत्यादि अनेक तर्क मनमें करके चरणका स्पर्श नहीं करतीं।

नोट—१ नंगेपरमहंसजी इनमेंसे केवल सर्वप्रथम भावको कि 'वियोग हो जायगा' ठीक मानते हैं। दूसरे भावके विषयमें उनका मत है कि 'इन अर्थोंमें दोषापत्ति पायी जाती है क्योंकि यदि हाथके नग इत्यादि भूषण कारण होते तो हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागसे चरणोंको स्पर्श करतीं। भूषण चरणोंसे स्पर्श ही न हो पाता। पुनः, इन अर्थोंसे रामजीमें प्रीति भी नहीं पायी जाती और मूलमें शब्द प्रमाण है कि *'प्रीति अलौकिक जानि।'* श्रीपाँड़ेजीने दोनों भाव लिखे हैं पर प्रथम भाव लिखकर वे कहते हैं कि—'अहल्या उड़ गयी, हम भी उड़ न जायँ' यह भाव ठीक नहीं है क्योंकि 'यहाँ उड़ जानेका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।' इससे उन्होंने दूसरा भाव भी लिखा। और तीसरा भाव यह लिखते हैं कि 'सीताजी रामजीके सम्मुख होकर' इस संयोगको ऐसा प्रिय जानती हैं कि उनके पदको इस भयसे स्पर्श नहीं करतीं कि स्पर्श होते ही राजमहलमें जाना पड़ेगा और इस संयोगमें वियोग होगा।' श्रीरामजीके चरणोंसे अहल्याका वियोग हुआ। इसी तरह चरणस्पर्शसे हमारा वियोग हो जायगा; इतना ही सम्बन्ध इस भावमें *'गौतमतिय गति'* का जान पड़ता है। प० प० प्र० का भी यही मत है। वे कहते हैं कि 'सीताजी जानती हैं कि चरणस्पर्श किया नहीं कि यहाँसे लौटना पड़ेगा और वे तो इतनेमें प्रभु-विरह नहीं चाहती हैं, उन्हें इस रूपामृतसिंधुका पान करनेकी इच्छा है। अतः *'नहिं परसति पग पानि॥'* यही अलौकिक प्रीति है। चकोरी चन्द्रामृत पानसे कब तृप्त होती है? वि० त्रि० कहते हैं कि भारी डर है कि चरणस्पर्शमें कहीं धूलि छू गयी तो मुझे तुरन्त दिव्यलोकको जाना पड़ेगा।

२ अहल्याकी गतिका स्मरण करती हैं कि वह *'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई'* और *'सनमुख होइ कर जोरि रही'* अर्थात् श्रीरघुनाथजीने जब अपने चरणकमलसे उसको स्पर्श किया तब वह पाषाणसे स्त्रीरूप हो उनकी सन्निधिमें प्राप्त हुई। परंतु जब वह स्वयं उनके चरणोंपर पड़ी तब *'गै पति लोक अनंद भरी॥'* अर्थात् प्रभुकी सन्निधिको छोड़कर उसे अन्यत्र जाना पड़ा। अतः श्रीसीताजी सखियोंके कहनेपर भी स्वयं प्रभुके चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं, क्योंकि प्रभुको छोड़कर उन्हें अन्यत्र जाना नहीं है। वे चाहती हैं कि प्रभु स्वयं अपने चरणोंसे स्पर्श करके सदाके लिये मुझे अपनी सन्निधिमें ही रखें। यही अलौकिक प्रीति जानकर प्रभु हँसे। (पं० शंकरदत्त पाठक)

नोट—३ हनुमन्नाटकमें भी इसी सम्बन्धके कुछ श्लोक मिलते हैं। यथा—(१) **'पदकमलरजोभिर्मुक्तपाषाणदेहमलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम्। त्वयि चरति विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे कति कति भवितारस्तापसा दारवन्तः॥'**(३। १९) (श्रीजानकीजी श्रीरामजीसे कहती हैं कि गौतममुनिने आपके चरणकमलके रजसे पाषाण देहको छोड़नेवाली धर्मपत्नी अहल्याको पाया तो बड़े-बड़े पाषाणोंवाले इस विन्ध्याचलमें आपके फिरनेसे कितने ही तपस्वी स्त्रियोंवाले हो जायँगे। अर्थात् जिस भी शिलाको आपके चरणका स्पर्श होगा वही ऋषिकी स्त्री हो जायगी।) (२) **'उपलतनुरहल्या गौतमस्यैव शापादियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात्। चरणनलिनसङ्गानुग्रहं ते भजन्ती भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री॥'** (३। २०) (मार्गमें थकी हुई श्रीजानकीजी एक नावको देखकर कहती हैं कि गौतमजीके शापसे अहल्याके सदृश यदि यह भी शापको प्राप्त हुई कोई मुनिकी स्त्री ही हो तो आपके चरणकमलकी कृपाका स्मरण करती हुई यह नौका चिरकालतक हमको सुखकरी हो।) (३) **'आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ मणिकङ्कणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम्॥'**(१४। ५७) (**अहल्यावच्चरणस्पर्शमात्रेण कङ्कणमणयोऽपि योषितो मा भूवन्निति भावः।**) लङ्कामें अग्निपरीक्षा होनेपर अग्निशपथसे निकली हुई और अत्यन्त भक्तिको धारण करती हुई श्रीजानकीजी फिर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका स्पर्श नहीं करती हैं क्योंकि उनके हाथ मणि और कंकणसे प्रकाशित हो रहे थे, यह अद्भुत हुआ। (इस शंकासे कि कहीं अहल्याकी तरह श्रीरामपदस्पर्शसे ये कङ्कणकी मणियाँ स्त्री न हो जायँ।)

हनुमन्नाटक ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ है और गोस्वामीजीके समयमें भी इसका प्रचार रहा है। मानसके धनुषयज्ञप्रसंग, परशुरामगर्वप्रसंग, अङ्गद-रावण-संवाद इत्यादि तो हनुमन्नाटकसे अत्यन्त मिलते हैं, अतः यह असम्भव नहीं है कि *'गौतमतिय गति''॥'* यह दोहा भी हनुमन्नाटकके उपर्युक्त उद्धरणोंके आधारपर लिखा गया हो। अतः मणियोंके स्त्री होनेकी शंकावाला भाव भी इसमें अप्रामाणिक नहीं है। इस भावमें *'गौतम-तिय गति'* से 'अहल्याका पाषाणसे दिव्य स्त्री हो जाना' मात्र लिया जायगा।

'गौतमतिय गति' का यह अर्थ लेनेसे कि 'अहल्या चरणस्पर्शसे दिव्य हो पतिलोकको चली गयी अन्य भाव भी सुसङ्गत हैं कि—(क) चरणस्पर्शसे मैं अपने नित्य दिव्य रूपको पाकर पतिलोक (साकेत वा वैकुण्ठ) को न चली जाऊँ। प्रभुसे मेरा वियोग हो जायगा जैसे अहल्याका प्रभुसे वियोग हुआ। (ख) श्रीरामजीने अहल्याका स्पर्श स्वयं किया तब वह उनके सम्मुख रही और जब उसने स्वयं श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श किया—*'बार बार हरि चरन परी'* तब उसका उनसे वियोग हो गया—*'गै पतिलोक'* ।अतः वे चरणका स्पर्श नहीं करतीं। इत्यादि।

अन्य महानुभावोंके भाव आगे दिये जाते हैं—

शीलावृत्ति—चरणस्पर्श न करनेका हेतु यह है कि 'श्रीलक्ष्मीजीने श्रीविष्णुजीके हृदयमें भृगुचरण देख उनको जयमाल पहिनाया था और ये चरण तो (विप्रपत्नी) अहल्याको स्पर्श किये हुए आते हैं। हम रमाकी खानि हैं, हमको तो रमासे कोटि गुण धर्म जानना चाहिये। यह बात श्रीसीताजीके मनकी जान अति प्रसन्न हो अलौकिक प्रीति समझ श्रीरामजी मनमें हँसे।' ····'अहल्या *'गइ पतिलोक अनंद भरी'*—यह संयोग है, पतिसे वियोग नहीं है। चरणस्पर्शसे हमारा वियोग होगा यह अर्थ संगत नहीं है क्योंकि चरण तो संयोगी हैं। नग सब स्त्री हो जायँगे यह भाव भी ठीक नहीं, क्योंकि सीताजी जानती हैं कि श्रीरामचरण अनेक पाषाण स्पर्श करते हैं, कोई भी तो नहीं उड़ते और अहल्या तो शापवश रही है।'

वीरकविजी—इस वाक्यमें अस्फुटगुणीभूतव्यङ्ग है कि सब आभूषण स्त्री हो गये तो वह भार्या होनेसे स्वामीकी प्रीति मुझपर न्यून रहेगी। यह व्यङ्ग कठिनतासे देख पड़ती है पर जान लेनेसे बहुत ही सरल है। 'अलौकिक' शब्दमें लक्षणामूलक 'गूढ़ व्यङ्ग' है कि पाँव पड़ते ही यहाँसे चल देना होगा।

श्रीरामबालकदासजी मालवीय—महारामायणमें कहा है कि जब सरकारकी इच्छा नरनाट्यकी हुई और उन्होंने श्रीमहारानीजीसे कहा कि मैं श्रीअवधमें श्रीदशरथमहाराजके यहाँ प्रकट होऊँगा और आप योगिराज जनक महाराजकी पुत्री बनें, तब महारानीजीने शङ्का की कि राजाओंके अगणित रानियाँ होती हैं, श्रीदशरथ महाराजके भी अगणित रानियाँ हैं; वैसे ही आप भी राजा होकर अगणित रानियोंका पाणिग्रहण करेंगे। इसपर श्रीसरकारने प्रतिज्ञा की कि मैं एकपत्नीव्रत रहूँगा। इस समय अहल्याकी गतिका स्मरणकर वे सोच रही हैं कि श्रीसरकारने अहल्याका स्पर्श करके प्रतिज्ञाका भंग किया, अतएव मैं चरणोंका स्पर्श न करूँगी। पाषाणकी स्त्रीके स्पर्शपर यह मान उनका अलौकिक प्रेम है। इसको समझकर प्रभु हँसे।

वैजनाथजी—(क) *'गौतमतिय गति सुरति करि'* यह कि पाषाणकी अहल्या तो बहुत भारी थी जब वह दिव्य देह धरकर न जाने किस लोकको गयी तब मैं तो अत्यन्त कोमल हूँ, उसपर भी बाल्यावस्था है, मैं चरणस्पर्शसे यहाँ कैसे रुक सकूँगी—*'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥'* बड़े सुकृतोंसे प्रभुकी समीपता प्राप्त हुई जिसपर स्वर्ग, मुक्ति तथा चारों फल निछावर हैं। यह सोचकर चरण-स्पर्श नहीं करतीं। सदा संयोगके आगे चारों पदार्थोंका अनादर किया, यह अलौकिक प्रीति है जिसे जानकर प्रभु हँसे। (ख) मणि स्त्रियाँ होकर हमारे सुखकी भागिनी न हो जायँ यह भय मानना लौकिक प्रीति है और पातिव्रत्यका बाधक है क्योंकि पतिव्रता तो पतिके सुखमें सुख मानती है इत्यादि कारणोंसे यह भाव शिथिल है।

मा० त० वि०—(१) श्रीजानकीजी सोचती हैं कि चरणस्पर्शसे अहल्या पाषाणदेह छोड़ अपने पूर्वरूपको प्राप्त हुई वैसे ही कहीं मेरा यह नरनाट्यरूप छूटकर **'रामः सीता जानकी रामचन्द्रः नित्याखण्डो ये च**

पश्यन्ति धीराः॥' वाला यथार्थरूप प्रकट न हो जाय (तो सब लीलाकार्य ही बिगड़ जाय)। श्रीरामजीने यह अलौकिक प्रीति देखी कि मेरी इच्छाका इनको कितना खयाल है। अथवा, (२) हनु० ना० के अनुसार भाव कि वे सोचती हैं कि कङ्कणके मणिगण स्त्रियाँ हो गयीं तो 'अनादि सूत्रमें जो अलौकिक भाव है। '**प्रकृतिपुरुषयोरन्यदनित्यं तत्त्वम्**' वह न रहेगा।' अथवा, (३) 'बालविनोदमात्र जो सीताजीकी अद्भुत प्रीति है कि मारे प्रेमके समीपसे हटना नहीं चाहतीं फिर भी चरण नहीं छूतीं कि न जाने कंकणके मणिमें जो प्रीतम प्यारेकी अद्भुत झाँकी है वह ही कहीं अहल्याकी तरह दिव्य स्त्री न हो जाय। यही अलौकिक प्रीति है (और भी भाव उन्होंने लिखे हैं जो ठीक समझमें नहीं आते।)

वि० त्रि०—'***सोहति सीय राम कै जोरी'''प्रीति अलौकिक जानि***' यह अलौकिक जोड़ी है, यथा—'***बानी बिधि गौरि हर सेसहू गनेस कही सही यही लोमस भुसुंडि बहुबारिषो'''सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो॥***' सखियोंके कहनेपर भी सीताजी सरकारका चरण-स्पर्श नहीं करतीं, कारण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि '***गौतमतिय गति सुरति करि॥***' गौतमकी स्त्री अहल्या चरणकी धूलि स्पर्श करके तर गयी, संसार-सागरके पार हो गयी, यथा—'***मुनितिय तरी लगत पग धूरी***' सो सीताजीको यह संदेह उठा कि कहीं मैं भी संसारसागरके पार न चली जाऊँ, तब तो सरकारके चरणोंसे वियोग हो जायगा, अतः चरणस्पर्श नहीं कर रही हैं। रघुवंशमणि इस अलौकिक प्रीतिको देखकर मन-ही-मन हँस रहे हैं। भीतर प्रीति इतनी और बाहरकी क्रिया अटपट हो रही है, अतः हास्यरसका प्रादुर्भाव हुआ।

टिप्पणी—३ (क) '***मन*** बिहसे ***रघुबंसमनि***' क्योंकि प्रकट हँसनेमें लोकलाज है। लोकलाजकी रक्षा करनेसे रघुवंशमणि कहा। भाव कि सभी रघुवंशी लोकलाज रखते हैं और ये सबमें श्रेष्ठ हैं, ये क्यों न रखें? पुनः अलौकिक प्रीति श्रीजानकीजीके मनमें है। मनकी प्रीति जानकर मनमें विहँसे अर्थात् मनमें प्रसन्न हुए। (ख) '***प्रीति अलौकिक जानि***' इति। जानकीजीकी जैसी प्रीति रामजीमें है वैसी लोकमें किसीकी नहीं है। इसीसे प्रीतिको अलौकिक कहा। (ख) हँसे कि लोग तो हमारे चरणोंका स्पर्श और दिव्य लोककी चाह करते हैं और ये हमारे निमित्त हमारे चरणका स्पर्श नहीं करतीं, ये दिव्य लोक नहीं चाहती हैं। (ग) '***जानि***' कहकर जनाया कि श्रीरामचन्द्रजी जान गये, सखियाँ न जान पायीं। यदि वे जानतीं तो पदस्पर्शको न कहतीं।

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—हास्यरस कितना कोमल है! हास्यरसका माधुर्य ही यह है कि जिसपर हँसी आवे उसपर प्रेम बढ़े। मनमें हँसनेके कारण ये हैं कि—एक तो स्वयं संकोच है और लज्जा। दूसरे यह डर है कि स्पष्ट हँसनेसे सीताजीको दुःख न हो और वे लज्जित न हो जायँ, लेकिन प्रेमकी सनकवाले 'अतिभीत' पर हँसी आये बिना न रही।'

पाँड़ेजी लिखते हैं कि रामजी 'उस अलौकिक अर्थात् आदि प्रीतिको जानकर जो उनके और जानकीजीके (अन्तःकरणमें परस्पर है) अपने मनमें हँसते हैं कि सीताजी उसको भूलकर भ्रममें पड़ी हैं। अथवा, जबतक हम चरणस्पर्श न करेंगी तबतक सखियाँ हमको लौटा न ले जायँगी—यह अलौकिक प्रीति जानकर हँसे।'

तब सिय देखि भूप अभिलाषे। कूर कपूत मूढ़ मन माषे॥ १॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥ २॥
लेहु छड़ाइ सीय* कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥ ३॥

अर्थ—तब श्रीसीताजीको देखकर राजा ललचाये। वे कूर, कपूत, मूढ़ राजा मनमें 'माष' को प्राप्त हुए॥ १॥ वे अभागे उठ-उठकर कवच पहनकर जहाँ-तहाँ गाल बजाने लगे॥ २॥ कोई सीताको छीन (तो) लो और दोनों राजकुमारोंको पकड़कर बाँध रखो॥ ३॥

टिप्पणी—१ '***तब सिय देखि भूप अभिलाषे।***''' इति। (क) पहले प्रण सुनकर ललचाये और 'माषे' थे, यथा '***सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे॥***' (२५०। ५) और जब धनुष

* सं० १६६१ में 'सिय कह' पाठ है।

न उठा तब सीताजीको देखकर ललचाये और *'माखे'*। (ख) *'तब'* अर्थात् जब जयमाल पड़ गया (और आरती निछावर आदि हो चुके, स्वयंवरकी सब प्रक्रिया समाप्त हो गयी) तब *'माखे'* यह कि 'हमारे आगे (सामने) कन्यासे जयमाल क्यों पहिनी? यह कौन हैं जयमाल पहिननेवाले! क्या हम वीर नहीं हैं। हमारे रहते ये कन्या कैसे ले जायँगे? (ग) प्रण सुनकर जब ललचाये और माषे थे तब इनको *'भटमानी'* कहा था, क्योंकि यह वीरोंका काम ही है। जब सीताजीको देखकर अभिलाषा की, तब क्रूर आदि कहा। क्रूर हैं अर्थात् अधर्मी हैं; श्रीसीताजीको देखकर अभिलाषा करना अधर्म है। पुरुषार्थहीन होनेसे *'कपूत'* कहा और धर्मात्मा राजाओंका उपदेश सुनकर भी, कि *'जगदंबा जानहु जिय सीता। जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥'* ज्ञान न हुआ और न रामचन्द्रजीका भारी पुरुषार्थ देखकर ज्ञान हुआ, इससे *'मूढ़'* अर्थात् अज्ञानी एवं मूर्ख कहा।

☞नोट—प्रथम बार *'अभिलाषे'* के साथ *'भटमानी'* और इस बार *'क्रूर कपूत मूढ़'* विशेषण राजाओंको दिया। कारण कि वहाँ पुरुषार्थ दिखानेका काम था इससे *'मानी'* कहकर एक प्रकारसे उनकी प्रशंसा की कि जिन्हें अपने पराक्रम और पुरुषार्थका अभिमान था उन्हें क्रोध आ गया, वे बंदीके वचन सह न सके। ऐसा होना वीरोंके योग्य ही है। पर जब वे पुरुषार्थहीन सिद्ध हुए, तब उनके मुँहमें स्याही लग गयी, तब भी लज्जाको ताकपर रखकर वे श्रीजानकीजीको पानेकी इच्छा कर रहे हैं। अतः यहाँ *'क्रूर कपूत मूढ़'* ये गालीके शब्द उनके लिये कविने प्रयुक्त किये। श्रीरामजीके धनुष तोड़नेपर और उनको जयमाल पहनाये जानेपर श्रीजानकीजीकी चाह करना अधर्मपर पैर धरना है, अतः *'क्रूर'* कहा। पुरुषार्थहीन साबित हुए, अपने बाप-दादाका नाम डुबाया, अतः *'कपूत'* कहा। और, साधुराजाओंके समझानेपर उन्होंने न माना, श्रीलक्ष्मणजीके वचन सुनकर, उनका क्रोध और प्रभाव (*'डगमगानि महि दिग्गज डोले।'''''''''''''''*, *'दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला।''सजग होहु सुनि आयसु मोरा।'*) देखकर भी उनको सूझ न हुई; अतः *'मूढ़'* कहा। (प्र० सं०)

वि० त्रि०—जनकजीके कहनेपर कि *'कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ'* जो अभिलाषा दब गयी थी सो जाग उठी। सीताजीकी प्राप्ति किसीको न होगी, इस बातपर जिन्हें संतोष था, उन्हें दूसरेको उनकी प्राप्ति सह्य न हुई। उनमेंसे जो क्रूर, कपूत और मूढ़ थे उन्हें मन-ही-मन आमर्ष हुआ। आमर्ष=अभिमान। बलवान्‌के सामने आमर्ष चल नहीं सकता, अतः क्रुद्ध होकर सामना करनेका साहस नहीं है, अतः मन-ही-मन मसोस रहे हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'उठि उठि अभागे'* इति। बल-प्रताप-वीरता-बड़ाई तो अपनी नष्ट ही कर डाली, अब सुन्दर भावसे श्रीसीतारामजीका दर्शन भी नहीं करते। (उनसे विमुख हो रहे हैं, विरोध कर रहे हैं) अतः *'अभागे'* कहा। *'पहिरि सनाह'* से जनाया कि युद्ध करनेको तैयार हुए। क्योंकि सनाह युद्धमें पहना जाता है। [सनाह=कवच; जिराबख्तर अस्त्र-शस्त्रसहित। यह फारसी 'सिलह' शब्द है] करतूत बिना केवल कोरी बातें करना गाल बजाना है। (ख) यहाँ राजाओंका तन, मन, वचन तीनोंसे विरोध करना (रामविमुख होना) दिखाया। *'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे।'* यह तनका, *'मन माखे'* यह मनका और *'जहँ तहँ गाल बजावन लागे'* यह वचनका विरोध है। इतनेपर भी श्रीरामजी क्षमा करते गये, क्योंकि बलवान् हैं और बलवान्‌की शोभा क्षमा है। (ग) मिलान कीजिये—*'लाज तौ न साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं। कहा भो चढ़ाये चाप, ब्याह ह्वै है बड़े खाये, बोलैं, खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं॥'* (गी० ९५) गीतावलीमें अस्त्र-शस्त्र *'सेल असि'* धारण करना कहा, यहाँ *'सनाह'* पहिनना कहकर शस्त्रास्त्र भी धारण करनेका इशारा कर दिया है।

टिप्पणी ३ (क) *'लेहु छड़ाइ सीय कहँ'* इति। 'धनुष तोड़कर विवाह करना 'पद' था सो न हुआ, अब दूसरा 'पद' निकालते हैं कि जो राजा जीतै उसीकी सब वस्तु है, 'हम वीर हैं, हमारी है जानकी' यह *'लेहु छड़ाइ'* का भाव है। [(ख) *'कह'* इति। कह-कहँ। पोथीमें बहुत जगह 'कह' के 'ह' पर अनुस्वार नहीं दिया हुआ है, पर अर्थ 'कहँ' है, वैसे ही यहाँ भी 'कहँ' अर्थ है। *'गाल बजावन लागे'*

क्रिया पूर्व आ चुकी है। *'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ'* इत्यादि सब वचन वही 'गाल बजाना' है। पाँड़ेजी इत्यादिने *'कहँ'* पाठ दिया है। *'कह'* को क्रिया माननेमें यह वचन केवल एक राजाका हो जाता है; 'कोई यह कहता है' इस वचनके आगे आवश्यकता फिर इन शब्दोंकी भी पड़ती है कि 'और कोई यह कहता है'। प्रमाण यथा *'कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी।'* (२२१। २)।"*देखि रामछबि कोउ एक कहई।* २। "*कोउ कह ए भूपति पहिचाने।"कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता*"(२२२) ""।'; पर ऐसे शब्द आगे नहीं हैं। अतः पं० रामकुमारजी इत्यादिका अर्थ ठीक जान पड़ता है।] (ग) *'कोऊ'* का भाव कि ये लड़के ही तो हैं, कर ही क्या सकते हैं, इन्हें तो कोई भी धर-पकड़ सकता है, ये तो किसीसे भी नहीं जीत सकते। (घ) *'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ'* इति। [*'नृपबालक'* कहकर इनको शत्रु करार दिया। शत्रुको स्वतन्त्र न छोड़ना चाहिये। यह राजनीति है कि जिसका धन, स्त्री आदि अपहरण करे उसे स्वतन्त्र न रखे, यथा *'कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छँड़ाई॥'* (३। १८) *'मर्कट हीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस दोउ भाई॥'* (६। ३२) नीति है राजाको पकड़कर कैदमें रखे, इसीसे दोनों भाइयोंको धर बाँधनेको कहते हैं। पुनः भाव कि बालक समझकर इनको *'धर बाँधने'* को कहते हैं, बालक हैं, इनसे लड़नेकी भी आवश्यकता नहीं। इसीसे *'नृप बालक'* कहा (बैजनाथजीका मत है कि *'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ"।'*, ये 'क्रूर' राजाओंके वचन हैं। शत्रुको छोड़ देनेसे वह पीछे घात करता है, अतः बाँध रखनेको कहा। *'जौं बिदेह कछु करै सहाई।"'* ये वाक्य मूढ़ राजाओंके हैं।' वि० त्रि० का भी ऐसा ही मत है। *'तोरे धनुष"'* ये वचन कपूतोंके हैं।)

तोरे धनुषु चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥४॥
जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥५॥

शब्दार्थ—**चाँड़**=स्वार्थ, चाह, यथा—*'हित पुनीत सब स्वारथहिं अरि असुद्ध बिनु चाड़। निज मुख मानिक सम दसन भूमि परे ते हाड़॥'* (दोहावली ३३०)। **चाँड़ नहिं सरई**=काम न चलेगा; इच्छा न पूरी होगी। स्वार्थ नहीं सध सकता। वि० त्रि० 'चाट' अर्थ करते हैं। सरना (सं० सरण)=चलना।

अर्थ—धनुष तोड़नेसे काम न चलेगा, (भला) हमारे जीते-जी राजकुमारीको कौन ब्याह सकता है?॥ ४॥ यदि विदेह (उनकी) कुछ सहायता करें तो दोनों भाइयोसहित उन्हें भी संग्राममें जीत लो॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व जो कहा था कि *'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा॥'* (२४५। ६) उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं। ☞ जैसी बात कहते हैं, उसीके अनुकूल शब्द प्रयोग किया गया है। विवाह होना कैसा कठिन है, यह कठिनता वैसे ही कठिन शब्दोंसे दिखाते हैं। अथवा, पूर्व जो कहा था कि *'एक बार कालउ किन होऊ। सिय हित समर जितब हम सोऊ॥'* (२४५। ७) उसी वचनका अभिप्राय यहाँ कहते हैं। कालसे कोई जीतता नहीं, इसीसे कहते हैं जबतक हम जीवित रहेंगे तबतक कोई सीताजीको ब्याहने न पावेगा, मरनेपर चाहे जो ले जाय। (ग) *'जौं बिदेहु कछु करै सहाई'* इति। *'जौं'* कहनेका भाव कि हम सब राजाओंको प्रबल देखकर जनकमहाराज सहायता न करेंगे, यदि कदाचित् करें तो उन्हें भी युद्ध करके जीत लो। [वा, कुमारीका पिता विदेह है वह झगड़ेमें पड़नेवाला नहीं, पहिले ही कहता था *'कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ'*, वह किसीकी सहायता न करेगा, पर यदि राजकुमारीको छीनी जाते और अपने जामाता दोनों भाइयोंको बँधते देखकर कुछ चीं-चपड़ करे तो उसे भी समराङ्गणमें जीत लो। (वि० त्रि०)] *'कछु'* कहनेका भाव कि जनक युद्धमें विशेष ठहर नहीं सकेंगे, उनकी सहायता 'कुछ' होके बराबर है, तात्पर्य कि उनको जीतनेमें परिश्रम नहीं होनेका। इसीसे समरमें जीतनेको कहते हैं। (घ) *'बिदेह'* का भाव कि उनको तो अपनी देहकी ही खबर नहीं है, वे क्या सहायता करेंगे? अतः उनकी सहायताको *'कछु'* कहा। (ङ) दोनों भाइयोंको समरमें जीतना न कहकर *'धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ'* ऐसा कहा था, क्योंकि वे बालक हैं, बालकोंको धर-बाँधनेमें समर नहीं होगा, इनके साथ सेना नहीं है जो ये

लड़ें। विदेह राजा हैं, उनके पास सेना है। यदि वे सहायता करें तो समर होगा, अतः *'जौं बिदेहु कछु करै सहाई'* के सम्बन्धसे *'जीतहु समर'* कहा। (च) *'दोउ भाई'।* धनुष तो रामजीहीने तोड़ा है, पर बाँधने और जीतनेमें दोनों भाइयोंको कहते हैं क्योंकि भाई भाईकी सहायता करता ही है, यथा—*'होहिं कुठाय सुबंधु सहाए। ओड़ियहिं हाथ असनिहु के धाए॥'* लक्ष्मणजी सुबन्धु हैं, वे अवश्य सहायता करेंगे। अतः *'जीतहु दोउ भाई'* कहा। (छ)—पूर्व जो कहा था कि *'सिय हित समर जितब हम सोऊ'*—उसीको यहाँ चरितार्थ किया कि *'जीतहु समर'* (कोई-कोई टीकाकार *'दोउ भाई'* से राजा सीरध्वज और कुशध्वज दोनों भाइयोंका अर्थ करते हैं पर यहाँ ऐसा अर्थ प्रसङ्गानुकूल ठीक नहीं जान पड़ता।)

(वि० त्रि० का मत है कि यह मूढ़ राजाओंके वाक्य हैं। ये मूढ़ हैं, इन्हें परिज्ञान नहीं कि विदेह किसे कहते हैं। जिसे देहाध्यास नहीं उससे बढ़कर योद्धा कौन हो सकता है? ऐसा स्वयंवर रचनेके लिये देहाध्यास था, सहायताके लिये नहीं है। शिवधनु-भङ्ग करनेवालेको भाई और विदेहराजसहित जीतनेका स्वप्न देखते हैं, ऐसेके मूढ़ होनेमें संदेह क्या?)

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ा)—चित्रण कितना सजीव है? डींग और डींगवाली प्रगतियाँ कैसे हास्यरसरूपमें दिखायी हैं? नमूनेकी तरहपर कई नृपोंके डींगके वाक्य भी नाटकीयकलाकी शैलीके अनुसार ज्यों-के-त्यों दे दिये हैं। (*'कोउ कह'* में वही संकेत है।) *'गाल बजावन लागे'* से स्पष्ट है कि कवि हास्यरस ही प्रधान रखता है; हाँ, प्रभाव अवश्य विभिन्न होंगे। हमारे मुँहसे निकलता है 'लेना लपकके'; लेकिन राजसभामें वैसी भाषा ठीक न होती, इसीसे कैसी सभ्य भाषामें इसी बातको कविने आगेकी चौपाइयोंमें लिखा है? सच है भूप 'साधु' हैं इससे व्यङ्ग भी कटु अवश्य है, पर सभ्य भाषामें। देखिये, कवि और राजाओंकी भाषाका अन्तर और कविकी कला विचारिये। कूर कपूत=*'नाक पिनाकहि संग सिधाई'* इत्यादि। मूढ़=*'असि बुधि तौ बिधि मुँहु मसि लाई'।*

साधु भूप बोले सुनि बानी। राजसमाजहि लाज लजानी॥ ६॥
बलु प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥ ७॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुहु मसि लाई॥ ८॥

अर्थ—इनके वचन सुनकर महात्मा राजा बोले—'इस राजसमाजमें तो लाज भी लजा गयी। (तुम्हारे) बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई और नाक (वा, बलप्रतापादिकी नाक) तो शिवजीके धनुषके साथ चलती हुई'॥ ७॥ वही शूरता (वीरता) क्या अब कहींसे फिर पा गये? ऐसी बुद्धि है तभी तो विधाताने मुँहमें स्याही लगा दी है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'साधु भूप बोले सुनि बानी'* इति। भाव कि साधुका स्वभाव है कि यदि उनको कोई कुछ कहे तो वे सह लेते हैं, यथा—*'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे॥'* (४। १४) पर यदि उनके इष्टको कोई कुछ कहे तो वे नहीं सहते, क्योंकि *'हरिहर निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥'* (६। ३१) इसीसे ये दुष्ट राजाओंके वचन न सह सके, बोल ही उठे। (ख) *'राजसमाजहि लाज लजानी'।* भाव कि राजसमाजको लज्जा आनी चाहिये, सो वह तो लज्जित न हुआ, समाजको देखकर लाज ही लजा गयी। ('लाज लजा गयी' मुहावरा है। भाव कि तुम्हारे समान निर्लज्ज कोई नहीं है। यह वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग है।) पूर्व जो कहा था कि *'जहँ तहँ गाल बजावन लागे'* उसीसे इनको कविने निर्लज्ज कहा, यथा *'पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा॥'* (६। ३२) गाल बजाना निर्लज्जता है। (ग) 'राजसमाजको लाज लजा गयी' यह कैसे निश्चय हुआ? इस तरह कि राजसमाज तो निर्लज्ज है पर जिनके लाज है वे राजसमाजकी इस निर्लज्जताको देखकर लजा रहे हैं, यही लाजका लजाना है। (तात्पर्य कि राजाओंके वचन सुनकर शीलवान् राजाओंने अपना-अपना सिर नीचे कर लिया। लज्जावान् पुरुषोंको

लज्जा लगी कि हम कहाँ इस निर्लज्ज समाजमें आ गये, यही मानो मूर्तिमान् लज्जाका लजा जाना है। यहाँ वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं।)—'धर्मीके द्वारा धर्म देख पड़ता है। जब राजसमाजको लाज लजानी तब राजसमाजकी भारी निर्लज्जता हुई। भाव कि तुम लाजसे न लजाये लाज ही तुमसे लजा गयी, तुम्हारे आचरणसे राजसमाज कलङ्कित होता है।

२ (क) *'बल प्रताप बीरता बड़ाई'''।* इति क्रमसे कहा। प्रथम बल है, बलसे प्रताप, प्रतापसे वीरता (अर्थात् प्रतापी वीर होते हैं) वीरतासे बड़ाई होती है और बड़ाईसे 'नाक' है। यहाँ *'बल'* को प्रथम लिखा, क्योंकि धनुष तोड़नेमें बलका काम था, तिलभर भी न उठा सकनेसे बलका नाश हुआ। बल 'प्रतापादि' का मूल है, अतएव बलके नाशसे उन सबोंका नाश हुआ। (ख) *'नाक पिनाकहि संग सिधाई'* इति। *'सिधाई'* एकवचन कैसे कहा? 'सिधानेवाले' तो 'बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई, नाक' कई हैं, अत: बहुवचन होना चाहिये था? उत्तर यह है कि यहाँ *'बड़ाई'* मुख्य है, यह शब्द सबके साथ है। अर्थात् बल, प्रताप, वीरता, और नाक (इज्जत)—इन सबोंकी बड़ाई धनुषके सङ्ग चली गयी। केवल बड़ाई कही नहीं होती, बड़ाई किसी गुणकी या किसी वस्तुकी होती है। बलादि सबकी बड़ाई पिनाकके सङ्ग गयी। क्योंकि राजा लोग प्रथम ही इन सबोंको पिनाकके हाथ हार गये, यथा—*'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चापकर बरबस हारी॥'* ये सब अब धनुषके हो गये। इसीसे धनुषके सङ्ग चला जाना कहा। जब पिनाक रहा तब नाक रही, जब पिनाक टूटा तब नाक भी टूट गयी।

नोट—१ यहाँ धनुषका नाम *'पिनाक'* कैसा उत्कृष्ट पड़ा है? *'पिनाक'* में 'नाक' पद है ही। मानों 'पिनाक' में जो नाक है, वह इन्हींकी नाक है, जो कटकर (इनको छोड़कर) इसमें लग गयी। वा, यों कहिये कि 'पिनाक' की नाकने तुम्हारी नाक छीन ली, यथा—*'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहि बिषाद बढ़ायो।'* (गी० १। ९१) इसी प्रमाणको लेकर हमने ऊपर कोष्ठकान्तर्गत अर्थ लिखा है। जबतक 'पिनाक' रहा तबतक 'नाक' रही, जब वह न रह गया तब नाक भी न रह गयी। २—*'नाक पिनाकहि संग सिधाई'* यह मनोरञ्जन वर्णन 'सहोक्ति' अलङ्कार है। *'कि अब कहुँ पाई'* में काकुसे शूरताका बाध होकर कापुरुषता व्यञ्जित होना गुणीभूत व्यङ्ग है।—(वीर)

टिप्पणी—३ (क) *'सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई'* इति। *'सोइ सूरता'* अर्थात् जिस शूरतासे धनुष तिलभर भी न हटा सके, उसी शूरतासे श्रीराम-लक्ष्मणजीको धर पकड़ने और बाँधनेको कहते हो। ऐसी बुद्धि थी तभी तो धनुष तोड़ने गये थे और मुँहमें स्याही (कालिख) लगवाके लौटे। यदि सुन्दर बुद्धि होती तो क्यों धनुषके पास जाते, यथा-*'जिन्हके कुछ बिचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥'* *'मुँह मसि लाई'* मुहावरा है, लोकोक्ति है। (ख) *'बिधि मुँह मसि लाई'* विधाताने स्याही लगायी कहनेका भाव यह है कि मुँहमें कालिख लगना पापका फल है और पाप-पुण्यके फलदाता विधि हैं,—*'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता॥'* श्रीसीताजी जगदम्बा हैं, श्रीरामजीकी आद्याशक्ति हैं, उनको पत्नीरूपसे वरण करनेकी इच्छासे धनुष उठाने गये, इससे पाप लगा। फिर धनुषके टूटनेपर जयमाल पड़ जानेपर भी भगवान्से विरोध करते हैं। *'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ'* ऐसी बुद्धि हो रही है। अतएव विधाताने मुँह काला कर दिया।

दो०—देखहु रामहि नयन भरि तजि इरिषा मदु कोहु*।
लखन रोषु पावकु प्रबलु जानि सलभ जनि होहु॥ २६६॥

अर्थ—ईर्ष्या, मद और क्रोधको त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीको नेत्र भरकर देख लो। लक्ष्मणजीके क्रोधरूपी प्रचण्ड अग्निमें जान-बूझकर पतिङ्गे न बनो॥ २६६॥

* पाठान्तर-'मोहु'-भा० दा०, पाँड़ेजी, पं० रा० कु०। 'मोहु' पाठसे भाव होगा कि श्रीजानकीजीके स्वरूपमें जो मोह है उसे छोड़ो। उनका स्वरूप न जानना मोह है। 'मोह' पाठसे हृदयके षट् शत्रुओंकी पूर्ति होती है। २६७ (३) देखिये।

टिप्पणी—१ (क) साधु राजाओंने जो प्रथम बार उपदेश दिया था कि *'जगत पिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥'* (२४६। ३) वही उपदेश वे यहाँ पुनः करते हैं कि नेत्रभर दर्शन कर लो। *'नयन भरि देखहु'* का भाव कि ध्यानमें भी जिनका दर्शन दुर्लभ है वे ही सामने प्रकट हैं; अतः देख लो, यथा—*'सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी॥'* (ख) *'तजि इरिषा मदु कोहु'* कहनेका भाव कि ये तीनों रामरूपदर्शनके बाधक हैं, बिना इनके गये रामरूप नहीं जान पड़ता। असाधु राजाओंमें अवगुण तो बहुत-से हैं, पर इस समय ये तीन विशेष हैं। श्रीरामजीसे वैर ठाने हैं (यह ईर्ष्या), अपनी बड़ाईका (वा अपने बलका) मद है और जानकीजीके स्वरूपमें मोह है, यथा—*'भए मोह बस सब नरनाहा'* उन्होंने जयमाल श्रीरामजीके गलेमें डाला है, इनके हाथसे निकली जाती हैं, अतः क्रोध है। इसीसे यहाँ इन्हीं तीन अवगुणोंको कहा। मायसे क्रोध होता ही है। अभिलषित वस्तु हाथसे निकलनेपर भी क्रोध होता है। (ग) *'लखन रोषु पावक प्रबल'* कहकर जनाया कि लक्ष्मणजी राजाओंकी ओर क्रोधसे देख रहे हैं, यथा—*'अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप'* इसीसे कहते हैं कि उनके क्रोधाग्निमें न जलो। (घ) *'जानि'* का भाव कि पतिङ्गा दीपक वा अग्निका मर्म बिना जाने जलता है और तुम सब तो जानते हो कि इन्होंने मारीच-सुबाहुकी सारी सेना क्षणभरमें मार डाली, जनकजीके वचनोंपर जो क्रोध हुआ उसे तुमने आँखों देखा है कि पृथ्वी भी काँप उठी, यथा—*'लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥'* इत्यादि। न भी जानते हो तो अब हम तो बता रहे हैं, हमारा सिखावन सुनकर तो जान गये; अतः जान-बूझकर न मरो। (ङ) *'सलभ जनि होहु'* इति। शलभका आरोप उन राजाओंपर किया गया क्योंकि पतिङ्गे कुछ कर नहीं सकते, सिवाय जल मरनेके उनका कुछ पुरुषार्थ वहाँ चल नहीं सकता; अग्नि कुछ उन्हें जलाने नहीं जाता और न उन्हें जलानेकी इच्छा ही करता है, पर वे स्वयं ही जाकर उसमें जल मरते हैं, वैसे ही तुम्हारी कुछ भी प्रभुता वहाँ न चलेगी, वे तुम्हें मारना भी नहीं चाहते, पर तुम आप ही उनके क्रोधाग्निमें जाकर प्राण देना चाहते हो, इति भावः। पुनः भाव कि श्रीराम-लक्ष्मणजीने तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा, तुम अपनेहीसे उनसे विरोध करते हो।

नोट—१ लक्ष्मणजीके क्रोधपर प्रबल अग्निका आरोप किया गया न कि दीपकका; क्योंकि दीपक बहुत-से पतिङ्गोंके आ पड़नेसे सम्भव है कि बुझ भी जाय पर प्रचण्ड अग्निमें तो समूह-के-समूह जलते चले जायँगे, जितने ही अधिक उसमें पड़ते जायँगे उतनी ही अधिक प्रचण्ड वह होती जायगी। यहाँ परम्परित रूपक है।

नोट—२ साधु राजाओंका उपदेश भी साधुताका है। ईर्ष्या, मद, क्रोध आदिको त्यागकर भगवान्‌का दर्शन करना साधु धर्म है, यथा—*'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्हके बस होहू॥'* साधुओंमें उपदेश करनेकी यही रीति है।

नोट—३ ऊपरकी चौपाइयों और दोहेमें अनेक अनुप्रासवाले शब्दोंकी जोड़ियाँ और समूह विचारणीय हैं। कटाक्षोंका जोर कितना उभर आता है? (लमगोड़ाजी) त्रिपाठीजीका मत है कि साधु राजाओंने क्रूरसे कहा कि *'तजि इरिषा देखहु'*, कपूतसे कहा कि *'तजि मद देखहु'* और मूढ़से कहा *'देखहु तजि कोहु'* ईर्ष्या, मद, कोह, तुम्हारे नेत्रभर देखनेमें बाधक हो रहे हैं।

प० प० प्र०—१ इस दोहेमें हम सबोंके लिये भी आध्यात्मिक उपदेश भरा है कि *'जहँ देखहु तहँ चितवहु रामहि'* क्योंकि रघुवंशमणि विश्वरूप हैं; पर हमलोग मदमोहादिका त्याग न करके विषयाग्निकी ज्वालापर पतंगेके समान कूदते हैं। परिणाम यह होता है कि देहरूपी भूमिको धारण करनेवाले शेषजी (लक्ष्मण=उच्छिष्ट ब्रह्म) रुष्ट होते हैं और उनके क्रोधानलसे देहका, सुरदुर्लभ नर-तनका विनाश हम अपने हाथ ही कर लेते हैं। २—यहाँ साधु राजाओंने यह नहीं कहा कि लषन-रोष-पावकमें मर जाओगे, क्योंकि ऐसा कथन सशर्त शाप ही हो जाता। भगवान् कृष्णजीने अर्जुनसे क्या कहा है सो देखिये—**'अथ चेत्**

त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।' (गीता १८। ५८) इसीसे तो कहा है कि '*राम ते अधिक राम कर दासा।*' यही यहाँ साधुभूपोंके वचनसे बताया है।

बैनतेय बलि जिमि चह कागू* । जिमि ससु चहै नागअरि भागू † ॥ १ ॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही । सब ‡ संपदा चहै सिव द्रोही ॥ २ ॥

शब्दार्थ—**बैनतेय**=विनताके पुत्र गरुड़। ससु (शश)=खरगोश, चौघड़ा, लमहा। बलि=भाग, भेंट, पूजाकी सामग्री, यथा—'**बलिर्भागो बलिर्दैत्यो बलिः पूजोपहारकः॥**' '**बलिपूजोपहारे च**' '**बल्यते दीयते॥**' इति।' '**बलदाने सर्वधातुभ्य इन्**' (उणादि पाद ४) इतीन्।'

अर्थ—जैसे गरुड़का भाग कौवा चाहे, जैसे हाथीके शत्रु सिंहका भाग खरगोश चाहे॥ १॥ जैसे बिना कारण ही क्रोध करनेवाला अपना कुशल (मंगल, खैरियत) चाहे, जैसे शिवजीका द्रोही सब सम्पदा (संपत्ति, ऐश्वर्य) चाहे॥ २॥

टिप्पणी—१ '*बैनतेय बलि*''' इति। (क) '*देखहु रामहिं नयन भरि*''' कहकर यह कहनेका भाव यह है कि तुमलोग श्रीरामजीका दर्शन करो, उनके भागकी अर्थात् श्रीसीताजीकी इच्छा न करो। उनका भाग मिलना वैसा ही है जैसे '*बैनतेय बलि जिमि चह कागू*' इत्यादि। (ख) अधम राजाओंके '*लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥*' के उत्तरमें साधुभूपके ये वचन हैं। (ग) यहाँ श्रीरामजी वैनतेय और नाग-अरि हैं, श्रीसीताजी बलिका भाग हैं और अधम राजा काग और शश हैं। जैसे सब पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़जी हैं और सबसे अधम काग है, यथा—'*सकुनाधम सब भाँति अपावन*' वैसे ही सब राजाओंमें श्रेष्ठ रामजी हैं और सबमें अधम तुम हो। प्रथम चरणमें '*बलि*' शब्द दिया और दूसरेमें '*भाग*' शब्द देकर उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया। (घ) गरुड़का भाग गरुड़की स्त्री और सिंहका भाग सिंहकी स्त्री है, यथा—'*जिमि हरिबधुहि छुद्र ससु चाहा॥*' (३। २८) (ङ) '*नाग-अरि*' कथनका भाव कि थलचरोंमें सबसे बड़ा पशु हाथी है, उसके भी मस्तकको जो सिंह विदीर्ण कर डालता है, भला उसका भाग शश चाहे? (च) अर्धालीका भाव यह है कि गरुड़का भाग गरुड़से छुड़ाकर जैसे काक चाहे और सिंहका भाग सिंहसे छुड़ाकर खरगोश चाहे, वैसे ही श्रीरामजीसे सीताजीको छुड़ा लेनेकी तुम्हारी बातें हैं जो असम्भव हैं। मृगोंमें सिंह मृगराज है, वैसे ही पुरुषोंमें श्रीरामजी पुरुषसिंह हैं—'*पुरुषसिंह दोउ बीर*''''*।*' खरगोश सबसे छोटा पशु है (पिद्दी-सा जानवर जो बहुत ही डरपोक और अत्यन्त कोमल होता है और जरासे आघातसे मर जाता है) वैसे ही तुम अत्यन्त क्षुद्र मनुष्य हो। तात्पर्य कि जैसे बड़ेका भाग क्षुद्र नहीं पाता, वरंच उलटे मारा जाता है, वैसे ही तुम श्रीजानकीजीको तो इनसे छुड़ा नहीं सकते, उलटे कालके वश होगे, यथा—'*जिमि हरिबधुहि छुद्र ससु चाहा। भयेसि कालबस निसिचर नाहा॥*' (३। २८), '*लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ*''' *॥*' इसीसे तुम्हारा पौरुष प्रकट है। (कौवा गरुड़से छीनना चाहे तो पा नहीं सकता, काँव-काँव भले ही करता रहे)

नोट—१ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि—'पूर्व जो उपमाएँ दी गयी हैं, एक गरुड़की, दूसरी सिंहकी वे दो भावोंको सूचित करती हैं। गरुड़की उपमा यह सूचित करती है कि जैसे गरुड़के बलि-भागको कौआ चाहे कि हमको मिल जाय तो बलि-भागका देनेवाला गरुड़को छोड़कर कौएको नहीं दे सकता है, वैसे ही कागरूप अन्य राजा सब चाहते हैं कि श्रीजानकीजी हमको मिलें पर उनकी चाह कौएकी भाँति वृथा है, राजा जनक सीताजीको सिवाय रघुनाथजीके और किसीको नहीं दे सकते क्योंकि विवाह धनुषके आधीन था, जनकजीके उस प्रणको रामजीने धनुष तोड़कर पूरा किया। दूसरी उपमा इस भावको सूचित करती है कि श्रीरघुनाथजी सिंहरूप हैं, उनसे सीताजीको शशकरूप राजा कैसे ले सकते हैं। अर्थात् दोनों प्रकारसे नहीं पा सकते।

* कागा २ भागा—१७०४। † कागू २ भागू—प्रायः अन्य सबोंमें। ‡ सुख—को० रा०।

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'यदि कहो कि हम भी क्षत्रिय हैं और वह भी क्षत्रिय हैं (उनको सीताजीको ले जानेका कौन अधिकार?) तो उसपर कहते हैं कि गरुड़का भाग काग कैसे पा सकता है (हैं तो दोनों ही पक्षी) और सिंहका भाग चौगड़ा कैसे पा सकता है (यद्यपि दोनों थलचर हैं)?'

प० प० प्र०—१ धनुर्यज्ञकी समाप्तिमें जनक महाराजरूपी यजमानने सीतारूपी बलि रामरूपी गरुड़को दे ही दिया है, यह यज्ञभाग मानो विश्वपीड़ा मिटानेके हेतुसे दिया गया। अब इसपर किसीका अधिकार नहीं है। गरुड़ पक्षिराज हैं, काक उनकी प्रजा हैं; अतः गरुड़का भाग पानेकी इच्छा करना स्वामिद्रोह करना है। यह अधर्म है। पुनः वैनतेयका बलि (भक्ष्य) तो सर्प है, यदि काक उसे उठानेका प्रयत्न करेगा तो वह सर्प ही उसे डस लेगा। भाव यह कि श्रीसीताजी ही तुम्हारे विनाशका कारण बनेंगी।—यह भूपवेषमें आये हुए असुरों और सुरोंके लिये हैं। आगे ऐसा हुआ भी है। सुरपतिसुतकी कथा देखिये। निशाचर-विनाशका कारण सीताजी ही बनीं।

२ *'जिमि ससु'''* इति श्रीराम सिंह हैं, वनके राजा हैं। सीताजी वधू हैं। लक्ष्मणजी सिंहकिशोर हैं, सेवक हैं। सिंहका भाग है गज। सिंह अपने पराक्रमसे गजराजको विदीर्ण करता है। यदि शश उसके भागकी इच्छा करेगा तो गज स्वयं उसको कुचल डालेगा।'''यह दृष्टान्त रावणादि राक्षसोंके लिये है। *'जे लंपट परधन परदारा'* ही निशाचर हैं। *'जय राम रावन मत्त गज मृगराज'* कहा ही है। भाव कि सिंहकिशोर लक्ष्मण ही तुहारा विनाश क्षणभरमें कर डालेंगे। आगे जो पाँच दृष्टान्त देते हैं वे दुष्ट मानव राजाओंके लिये हैं।

नोट—३ *'जिमि चह कुसल अकारन कोही॥'''* इति (क) *'अकारन कोही'* का भाव कि कारण पाकर तो प्रायः सबको क्रोध होता है (उसकी चर्चा यहाँ नहीं है, क्योंकि उससे किसीको दुःख नहीं पहुँच सकता), बिना कारण क्रोध करना दूसरोंको बुरा लगनेकी बात ही है, अतः उससे कुशल कहाँ? उससे तो सभीसे वैर-विरोध रहता है तब कुशल कैसे सम्भव है? यथा—*'भूतद्रोह तिष्टै नहिं सोई॥'* (५। ३८) *'कोही'* शब्द क्रोधीका अपभ्रंश है। *'अकारन कोही'* कहकर जनाया कि तुम श्रीरामजीसे बिना कारण ही क्रोध करते हो, जो काम तुमसे न बन पड़ा, उसे उन्होंने कर डाला, इसमें उनका क्या अपराध है? तुम व्यर्थ क्रोध करते हो जिसका परिणाम यह है कि मारे जाओगे। अपनी खैरियत न समझो। (ख)*'सब संपदा चहै सिवद्रोही'* इति। भाव कि शंकरजी सब सम्पदाके दाता हैं, यथा—*'सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे। दई जग जहँ लगि संपदा सुख गज रथ घोरे॥'''* इति विनये। शिवद्रोही सब सम्पदासे हीन रहता है।

लोभी* लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई॥ ३॥

अर्थ—लोभी-लोलुप सुन्दर कीर्ति चाहे! क्या कामी पुरुष निष्कलङ्कता पा सकता है?॥ ३॥

नोट—१ लोभी और लोलुप पर्यायवाची शब्द हैं। पुनरुक्ति-सी जान पड़ती है। परंतु इनमें कुछ भेद है। लोभीसे अन्तःकरणका मलिन होना जनाया। लोभीका हृदय मलिन होता है। लोभ मलिनता है। इसको पंथके जलकी उपमा दी है, यथा—*'उदित अगस्त पंथजल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा॥'* पंथके जलकी उपमा देकर मलिनता सूचित की, यथा—*'सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरानो'* इति विनये। *'लोलुप'* शब्द चञ्चलता सूचित करता है। जब लोभसे मन चञ्चल होकर प्रत्यक्ष लोभका काम करता है तब लोभीकी संज्ञा लोलुप होती है। चित्त चञ्चल होनेपर वह यही सोचता है कि कहाँ जायँ, क्या करें जिसमें अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय, यथा—*'लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै। तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥'* (वि० ८९) विनयके इस उद्धरणसे *'लोलुप'* का भाव स्पष्ट हो जाता है। पुनः प्राप्त वस्तुको यत्नसे छिपाकर रखनेकी चाह और उसके खो न जानेका डर—यह भाव 'लोभ' में हैं और प्राप्तिके लिये चञ्चलताका भाव 'लोलुप' में है। यथा—*'लोभीके धन ज्यों छिन छिन प्रभुहि सँभारहि', 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम॥'* (७। १३०) इस प्रकार पुनरुक्तिका दोष नहीं

* लोभु लोलुप—१७२१, १७६२, छ०। लोभी लोलुप—१६६१, १७०४, को० रा०।

रह जाता। इसी भावमें लोलुप शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने विनयमें भी किया है, यथा—'*चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे। रामसीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे॥*' (वि० १७०)

यहाँ राजाओंको सीताजीकी 'अभिलाषा' है और इसके साथ वे उसका यत्न भी कर रहे हैं—'*उठि उठि पहिरि सनाह अभागे*'। दोनों भावोंको प्रकट करनेके लिये '*लोभी लोलुप*' —पद दिया गया।—इस तरह यहाँ 'पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार' है।

पुन: '*लोभी लोलुप*'=वह लोभी जो लोभवश चञ्चल हो रहा है अर्थात् लोभका काम कर रहा है। जबतक लोभ हृदयमें है तबतक विशेष हानि नहीं, परन्तु जब वह कार्यमें परिणत हो गया तब कीर्ति नहीं होती। '*कीरति चहई*' एक वचन है। इससे '*लोभी लोलुप*' एक ही व्यक्तिका वाचक जान पड़ता है जिसमें लोभ और लोलुपता दोनों हों।

पं० रामकुमारजीका पाठ '*लोभ लोलुप*' है। लोभ लोलुप=लोभके कारण चञ्चल है अर्थात् लोभका काम कर रहा है।

टिप्पणी—१ (क) '*लोभी लोलुप कल कीरति चहई*'। भाव कि थोड़ा भी लोभ होनेसे कीर्ति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा होती है। यथा—'*अल्प लोभ भल कहै न कोऊ॥*' (५। ३८) कीर्ति उदारतासे होती है। लोभसे अकीर्ति होती है। '*कल कीरति*' का भाव कि लोभ मलिन वस्तु है। यथा '*उदित अगस्ति पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा॥*' (४। १६) इसमें लोभको रास्तेके जलकी उपा देकर उसका मलिन होना सूचित कर दिया है, यथा—'*सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरानो।*' इति विनये। मलिन वस्तुका सेवन करके 'निर्मल' कीर्तिकी चाह करता है। अथवा भाव कि लोभी है इसीसे कीर्तिकी प्राप्तिका भी भारी लोभ करता है कि उज्ज्वल कीर्ति मिले। यह चाह व्यर्थ है। (ख) '*अकलंकता कि कामी लहई*' यथा—'*कामी पुनि कि होइ अकलंका*'। भाव कि कामसे कलंक लगता है तब कामी बनकर अकलंकताकी चाह करे तो मूर्खता ही तो है।

टिप्पणी—२ दुष्ट राजाओंने जो कहा था कि '*जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥*' इसीपर साधु राजा उनको उपदेश दे रहे हैं कि हृदयके जो षट् शत्रु हैं उनको जीतो जिससे श्रीरामस्वरूप तुमको देख पड़े। बिना इनके जीते श्रीरामस्वरूप नहीं देख पड़ता; इसीसे प्रथम यह कहकर कि '*रामहि देखहु नयन भरि।*' तब षट् शत्रुओंके त्यागका उपदेश करते हैं। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मद और मोह—ये छ: शत्रु हैं। '*रामहि देखहु नयन भरि तजि इरिषा मद मोह*' इस दोहेमें ईर्ष्या, मद, और मोह तीन विकारोंके त्यागका उपदेश हुआ। '*जिमि चह कुशल अकारन कोही*' में क्रोध, '*लोभी लोलुप कल कीरति चहई*' में लोभ और '*अकलंकता कि कामी लहई*' में कामको त्यागनेको कहा।—यहाँ-तक षट् रिपुओंको त्यागनेको कहा।

टिप्पणी—३ पुन: काम, क्रोध और लोभ कहकर सूचित करते हैं कि तुमको त्रिदोष हो गया है। यथा—'*कुलहि लजावैं बाल बालिस बजावैं गाल कैधौं क्रूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं॥*' (गी० १। ९५। २) '*काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई॥*' (७। १२१), '*सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि कालबस खल मनुजादा॥*' (६। ३२)

टिप्पणी—४ सामान्यत: काम, क्रोध और लोभ यह क्रम मानसमें मिलता है, पर यहाँ क्रोध, लोभ और काम यह क्रम है। कारण कि राजाओंमें क्रोध प्रत्यक्ष दिखायी पड़ रहा है। अत: उसे प्रथम कहा। क्रोधका कारण लोभ, लोलुपता है और लोभ काम-विकारसे उत्पन्न हुआ है। इस क्रममें कार्य-कारण सम्बन्ध दिखाया है।

हरिपद बिमुख परम* गति चाहा। तस तुम्हार लालचु नरनाहा॥ ४॥

* सुगति जिमि—१७२१, छ०। परा गति—१७०४, १७६२। परम गति—१६६१, को० रा०।

अर्थ—जैसे भगवान्‌के चरणोंसे विमुख सर्वोत्तम गति (परमपद) चाहे; हे राजाओ! तुम्हारा लालच (भी) उसी प्रकारका है अर्थात् श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी चाह जो तुम कर रहे हो वह व्यर्थ है॥ ४॥

नोट—१ *'तस'* इस बातका बोधक है कि *'जस'* या उसका पर्याय शब्द पूर्व आ गया है। यहाँ *'बैनतेय जिमि'''* से लेकर *'हरिपद बिमुख'''* तक 'जिमि आदि शब्दोंका भाव आया पर उसकी जोड़में *'तस'* अन्तमें यहीं दिया गया। ऐसा करके सूचित किया कि यह चरण उपर्युक्त सब उदाहरणोंके साथ है और सब उदाहरणोंका एक ही धर्म है कि ऐसा हो नहीं सकता। अतः यहाँ 'द्वितीय तुल्ययोगिता' एवं 'एकधर्ममालोपमा' अलङ्कार हैं।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा था कि *'सब संपदा चहै सिवद्रोही'* और यहाँ *'हरिपद बिमुख परमगति चाहा'* कहा। इस प्रकार सूचित किया कि शिवजी सम्पदाके दाता हैं, पर सुगतिके दाता भगवान् ही हैं। (ख) सब जगह 'चाहना' कह आये, उसीको यहाँ 'लालचु' कहते हैं; इससे सूचित किया कि 'चाह' और 'लालचु' दोनों एक ही हैं। २—*'तस तुम्हार लालच'* कहकर छः बातें सूचित की—(क) एक यह कि जैसे गरुड़का भाग कौवेको नहीं मिलता और सिंहका भाग शशको नहीं मिलता, वैसे ही तुमको श्रीसीताजीकी प्राप्ति नहीं है। (ख) दूसरे यह कि जैसे अकारण क्रोधीकी कुशल नहीं, वैसे ही इस लालचसे तुम्हारी कुशल नहीं। (ग) तीसरे यह कि जैसे शिवद्रोहीको सम्पदा नहीं मिलती वैसे ही इस लालचसे तुम शिवद्रोही हुए; क्योंकि श्रीजानकीजी शिवजीकी माता हैं (इसीसे तो उन्होंने सतीजीको सीतावेष धारण करनेसे ही परित्याग किया था), अतएव तुम्हारी सब सम्पदाका नाश होगा। (घ) चौथे जैसे लोलुप, लोभी कीर्ति चाहता है पर उसे मिलती नहीं, वैसे ही इस लालचसे तुम्हारी कीर्तिका नाश है। (ङ) पाँचवें, जैसे कामी अकलंकित नहीं रहता, वैसे ही इस लालचसे तुमको कलंक लगा। और (च) छठे, जैसे हरिपदविमुखकी सद्गति नहीं होती वैसे ही इस लालचसे तुम हरिपदविमुख हुए, अतः तुमको परमगतिकी प्राप्ति नहीं होनेकी—तात्पर्य कि ऐसी लालचसे बड़ी भारी हानि है; अतएव श्रीसीताजीकी प्राप्तिकी लालसा त्याग दो। इतने दृष्टान्त देकर यह भाव दर्शित किये गये।

☞इस प्रसङ्गमें यह उपदेश है कि ईर्ष्या, मद, मोह, काम, क्रोध और लोभ त्यागकर शिवभक्ति करे तब हरिभक्ति होती है। इसीसे हरिभक्तिको पीछे लिखा।

पं० राजारामशरण—१ पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी बिलकुल ठीक है। साधु राजाओंके मुखसे उदाहरण इत्यादि भी वैसे ही निकलते हैं। कविवर टेनिसनकी प्रशंसा करनेवाले मित्र इन प्रसंगोंको विचारते चलें। २-चरित्रसंघर्ष और वादविवादकला प्रशंसनीय है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'बैनतेय बलि जिमि चह कागू।'''तस तुम्हार लालच नर नाहा'* इति। यद्यपि गरुड़ और काग दोनों पक्षी हैं पर गरुड़का भाग कागको नहीं मिल सकता। बलि देनेवाला ही न चाहेगा, वैनतेयको चाहे बलिकी परवाह न हो। इसी भाँति खरगोश और नागारि दोनों चतुष्पाद हैं पर खरगोशका सामर्थ्य नहीं कि *'मत्तनाग तम कुम्भ बिदारी'* सिंहके भागको छू सके। सिंहके मारे हुए शिकारको कोई चतुष्पाद स्पर्श नहीं करता, अतः न तो जनक छीनने देवेंगे और न रामजीके सामने तुम्हारा दिन है कि तुम सीताजीका स्पर्श कर सको। यह साधु राजाओंका उत्तर क्रूर राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था *'लेहु छड़ाइ सीय'* (कह कोउ) क्रोधीका कुशल नहीं होता, निष्कारण क्रोधीका तो हो ही नहीं सकता। जो बात तुम लोगोंकी की हुई न हो सकी, उन्होंने कर दिखायी। इसमें उनका क्या अपराध है जो तुम क्रोध करते हो और क्रोध करनेमें तुम्हारा कुशल नहीं; जिसपर शिवजीकी कृपा हुई उसने धनुष तोड़ा। उन्होंने ब्रह्मकुलरूपी शङ्करकी आज्ञा लेकर तब धनुष तोड़ा है (यथा—*'राम गुनिन्ह सन आयसु माँगा'*) इसीसे उन्हें त्रैलोक्य-जय, लक्ष्मी और सब सम्पदा प्राप्त हुई, तुम शिवद्रोही हो, बिना शिवजीकी आज्ञा धनुष तोड़ने उठे, तुम्हें त्रिभुवनजय, लक्ष्मी नहीं प्राप्त हो सकती। यह साधु राजाका उत्तर कपूत राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था *'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ'।* ब्रह्मकुलके शङ्कररूप होनेका प्रमाण—'मोहाम्भोधर-

पूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करम्। बन्दे ब्रह्मकुलम्'। *'गुनसागर नागर नर जोऊ। अल्प लोभ भल कहै न कोऊ॥'* सो तुम्हारा इतना बड़ा लोभ है कि जिस धनुषको १०००० राजा न हिला सके, उस धनुषके तोड़नेवालेके पुरस्कारकी इच्छा करते हो। तुम लोभ-लोलुप हो गये, तुम्हें कीर्ति कैसे मिलेगी? तुम कामवश हो प्राण देकर कलङ्क धोना चाहते हो, सो भी नहीं होनेका। कामीको अवश्य कलङ्क लगेगा।

यह उत्तर साधु राजाओंका मूढ़ राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था कि *'तोरे धनुष चाँड़ नहि सरई। जीवत हमहि कुँअरि को बरई॥'*

कोलाहलु सुनि सीय सकानी। सखी लवाइ गई जहँ रानी॥ ५॥
रामु सुभाय चले गुरु पाहीं। सिय सनेहु बरनत मन माहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**सकानी**=शंकित होना, डरकी शंका होना।

अर्थ—हल्ला-गुल्ला (शोर) सुनकर श्रीसीताजी सहम गयीं। सखियाँ उनको वहाँ लिवा ले गयीं जहाँ (श्रीसुनयनाजी आदि) रानियाँ बैठी थीं॥ ५॥ श्रीरामचन्द्रजी स्वाभाविक ही गुरुके पास चले। श्रीसीताजीके प्रेमको मन-ही-मन वर्णन करते जाते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'कोलाहलु सुनि'* इति। कोलाहल शब्दका नाम है, इसीसे *'सुनि'* पद दिया, अर्थात् उसका सुनना कहा। (ख) *'सकानी'* का भाव कि असाधु राजा बोले थे कि *'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ'* यह सुनकर शंका हुई कि सत्य ही कहीं कोई राजा आकर हमारा अङ्ग स्पर्श न करे, इससे अब यहाँ ठहरना उचित नहीं है। सखियाँ चतुर हैं। श्रीजानकीजीकी रुचि समझकर रानीके पास ले गयीं। यथा—*'निज समाज लै गईं सयानी'*। (ग) *'लवाइ गई'* इति। स्मरण रहे कि जब श्रीसीताजी सखियोंसहित जयमाल पहिनानेको श्रीरामजीके समीप आयीं, तब सब सखियाँ मङ्गलगान करती हुई आयी थीं; यथा—*'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार'*। इस समय सोचके मारे मङ्गल-गान नहीं किया। पुनः, जब सीताजी आयी थीं तब हंसगवनिकी उपमा दी थी, यथा—*'गवनी बाल मराल गति सुषमा अंग अपार'* अर्थात् उस समय धीरे-धीरे आयी थीं और इस समय बहुत शीघ्र चली गयीं। इसीसे यहाँ हंसगवनि न कहकर *'लवाइ गई'* कहा। शंकित हृदय होनेसे झटसे ले जाना दिखाया।

टिप्पणी—२ (क) *'सुभाय चले'* इति। भाव कि धनुष तोड़नेका हर्ष वा अभिमान कुछ भी मनमें नहीं आया, जैसा स्वभाव था वैसे ही स्वभावसे चले। जैसे प्रथम सहज स्वभावसे धनुष तोड़ने चले थे, यथा—*'सहजहि चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी॥'* वैसे ही धनुष तोड़नेके बाद स्वाभाविक ही चले। पूर्व *'सहजहि'* और यहाँ *'सुभाय'* कहकर *'सहज'* का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि 'स्वभाव' है। पुनः, सहज ही स्वभाव, यथा—*'कनकउ पुनि पषान तें होई। जारेउ सहज न परिहर सोई॥'* [सीताजीके सम्बन्धमें *'सकानी'* कहकर, श्रीरामजीके सम्बन्धमें *'सुभाय'* कहकर जनाया कि ये निःशंक भयरहित चले, इनके हृदयमें कोलाहलसे कोई शंका न उत्पन्न हुई। अपनी स्वाभाविक चालसे चले।] (ख) *'सिय सनेह'*—प्रथम ही कह आये हैं, यथा—*'जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥'*, *'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥'*, *'गौतमतिय गति सुरति करि नहिं परसत पग पानि। मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥*. (ग) *'बरनत मन माहीं'* इति।. भाव कि एक तो वहाँ कहें तो किससे, दूसरे वह स्नेह अकथनीय है, कहना चाहें तो कथनमें नहीं आ सकता, यथा—*'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥'* इसी तरह जब पुष्पवाटिकासे चले तब कहा था कि *'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥'* पर जब वहाँसे चले थे तब *'लोनाई'* (सुन्दरता) की सराहना कर रहे थे और यहाँ धनुष तोड़नेपर 'स्नेह' की सराहना करते जा रहे हैं; कारण कि वहाँ सौन्दर्यकी प्रधानता थी और यहाँ स्नेह प्रधान है। फुलवारीमें श्रीरामजीकी प्राप्तिके लिये प्रेमपन नहीं ठाना था और यहाँ धनुषयज्ञमें प्रेमपन ठाना था।—[पुनः, वहाँ धनुषभंग न हुआ था, स्वयंवरकी प्रतिज्ञा

पूरी नहीं हुई थी, उस समय श्रीसीताजीके स्नेहकी प्रशंसा करना धर्मके प्रतिकूल होता। अतः वहाँ केवल सौन्दर्यकी सराहना है। और अब तो वे प्रिया-प्रियतम हैं।] श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि ठीक है फुलवारी लीलामें 'सौन्दर्यानुभव' (Aesthetic) वाले शृङ्गारका माधुर्य था और अब प्रेमका शृङ्गाररस है।

रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥ ७॥
भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लषनु राम डर बोलि न सकहीं॥ ८॥
दो०—अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहु मत्त गजगन निरखि सिंघकिसोरहु चोप॥ २६७॥

शब्दार्थ—**करनीया**=करने योग्य।=करनेवाला। **चोप**=उत्साह, उमंग, चाव।

अर्थ—रानियोंसहित सीताजी (राजाओंके वचन सुनकर) सोचके वशमें हैं कि न जाने विधाता अब क्या करना चाहता है॥ ७॥ राजाओंके वचन सुनकर लक्ष्मणजी इधर-उधर ताकते हैं, श्रीरामजीके डरसे कुछ बोल नहीं सकते॥ ८॥ आखें लाल और भौंहें टेढ़ी हो गयीं, राजाओंको क्रोधसे देख रहे हैं मानो मतवाले हाथियोंका झुण्ड देखकर सिंहके बच्चेको जोश हो आया हो॥ २६७॥

पं० राजारामशरण—आपने देखा अन्तर-नाटकीय कला (Interplot) का मजा? कितनी फुर्तीसे और कितने विभिन्न प्रभाव राजाओंके वाद-विवादके परिणामरूप कविने चित्रित कर दिये। लक्ष्मणजीका चित्र तो ऐसा सजीव और सूक्ष्म प्रगतियोंसे पूर्ण है कि फिल्मकला भी कविकी लेखनीपर निछावर है।

टिप्पणी—१ (क) *'रानिन्ह सहित'* 'इति। प्रथम केवल श्रीसीताजीका शंकित होना कहा था—*'कोलाहलु सुनि सीय सकानी'*। जब वे रानीके पास गयीं तब रानियोंका भी सोच बस होना कहा। *'रानिन्ह सहित'* कहकर श्रीजानकीजीकी प्रधानता दरसायी। तात्पर्य कि सोचमें जानकीजी प्रधान हैं, इनको सबसे अधिक सोच है। (ख) *'धौं'* का भाव कि विधिका कर्तव्य कोई जान नहीं सकता, यथा—*'सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।'* (२५६। ५) *'अब धौं'* का भाव कि एक बार तो मरणान्त क्लेश सहकर बचीं, अब न जाने क्या करनेकी इच्छा है। अर्थात् फिर कुछ अनर्थ किया चाहता है। (ग) *'इत उत'* ताकनेका भाव कि राजा लोग जहाँ-तहाँ गाल बजा रहे हैं, यथा—*'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे॥'* (सब एक जगह नहीं हैं।) जहाँ-जहाँ राजा गाल बजा रहे हैं वहाँ-वहाँ चितवते हैं इससे *'इत उत'* कहते हैं। राजाओंके वचन पूर्व कह आये—*'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥ तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥ जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥'* (घ) *'तकहीं'*। भाव कि राजाओंके वचन सहे नहीं जाते। [*'इत उत तकहीं'* का भाव यह भी हो सकता है कि वचन सहे नहीं जाते, इससे राजाओंकी ओर क्रूरदृष्टिसे देखते हैं फिर रघुनाथजीकी ओर देखने लगते हैं कि आज्ञा दें, इशारा हो तो इनको देख लूँ। (वि० त्रि० लिखते हैं—'इधर लक्ष्मणजीका क्या हाल है कि एक ओरसे आवाज आयी *'लेहु छड़ाइ सीय'* तो उधर देखा, तबतक दूसरी ओरसे शब्द हुआ *'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ'* तो उधर घूमे, तबतक तीसरी ओरसे आवाज आयी *'जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥'* इस भाँति विरोधियोंके शब्द इधर-उधरसे आ रहे हैं। लक्ष्मणजीके देखते ही चुप हो जाते हैं, पर दूसरी ओरसे आवाजें आती हैं।') रामजीके डरसे कुछ कह नहीं सकते। यहाँ यह शंका होती है कि श्रीजनकमहाराजके वचन सह न सके थे, तब तो बोल उठे थे, यथा—*'कहि न सकत रघुबीर डर बचन लगे जनु बान। नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान॥'* वहाँ श्रीरामजीका डर होते हुए भी बोले, यहाँ क्यों न बोले? बात यह है कि वहाँ न बोलनेसे वीरताकी हानि थी, वीरताका अपमान था, कलंक लग रहा था, इससे बोलनेसे वहाँ शोभा हुई और यहाँ बोलनेसे वीरताकी शोभा नहीं है। राजा तुच्छ हैं इनको मारनेसे शोभा नहीं है।

टिप्पणी २ (क) *'अरुन नयन भृकुटी कुटिल'* ये क्रोधके चिह्न हैं—*'भृकुटी कुटिल नयन रिस*

राते।' (२६८। ६) (ख) '*मत्त गजगन*''' *चोप*' इति। सिंहका बच्चा मतवाले हाथियोंपर चोट करता है। सिंहके बच्चेको देखकर हाथी स्वाभाविक डरता है। राजाओंको हाथी और लक्ष्मणजीको सिंहकिशोर कहकर जनाया कि लक्ष्मणजीको देख सब राजा भयभीत हो गये, यथा—'*कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरिकिसोर के ताकें॥*' (२९३। ४) गीतावलीमें भी यही भाव प्रत्यक्ष कहा गया है, यथा—'''''*लखन हँसे बल इन्हके पिनाक नीके नापे जोखे हैं। कुलहि लजावैं भाल बालिस बजावै गाल, कैधों कूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं॥ कुँवर चढ़ाई भौहें अब को बिलोकैं सौहें जहँ तहँ भे अचेत खेतके से धोखे हैं।* (गी० १। ९५) (ग) (लक्ष्मणजी क्रोधसे बारम्बार राजाओंकी ओर देखते हैं; इसीसे कवि भी बारबार देखना लिखते हैं—'*चितवत नृपन्ह सकोप*' और पूर्व भी लिख आये—'*भूप बचन सुनि इत उत तकहीं।*' (घ) '*सिंह किसोरहि चोप*' इति। सिंहका स्वभाव है कि मतवाले हाथियोंको मारता है, यथा—'*मत्तनाग तम कुंभ बिदारी। ससि केहरी गगनबनचारी॥*' (६। १२) '*जथा मत्त गज जूथ महँ पंचानन चलि जाइ।*' (६। १९) वैसे ही सब राजाओंको मत्त देखकर लक्ष्मणजीको उनको मारनेकी इच्छा हुई। श्रीलक्ष्मणजी किशोर हैं, अत: इनको किशोरसिंह कहा। दूसरे किशोरसिंहको हाथियोंके मारनेमें बड़ा उत्साह रहता है, इससे सिंहकिशोर कहा। राजा बहुत हैं, इसीसे उन्हें '*गजगन*' की उपमा दी।

वि० त्रि०—रौद्ररसका अनुभाव कहते हैं, नयन अरुण और भृकुटि कुटिल हैं, राजाओंको क्रोधसे देखते हैं। विभाव पहिले कह चुके हैं—'*भूप बचन सुनि इत उत तकहीं।*' राजाओंको मत्तगज कहा। वे आकारमें विशाल हैं, सिंह-किशोर आकारमें स्वल्प है, पर मत्तगजको कुछ गिनता नहीं।

वीरकविजी—रानियोंके मनमें इस आकस्मिक दुर्घटनाद्वारा बने हुए काममें बिगड़नेकी सम्भावनासे इष्टहानिका सोच उत्पन्न होना त्रास, उग्रता, विषाद, आवेग और शंका संचारी भाव है। '*भूपबचन सुनि इत उत तकहीं*' में अमर्ष संचारी भाव है। दोहेमें 'वीररसपूर्ण उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

धनुषयज्ञ-सियस्वयंवरप्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसियावररामचन्द्रजीकी जय।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

******

परशुराम-रोष और पराजय

परशुराम-गर्व-दलन-प्रकरण

खरभरु देखि बिकल पुर* नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी॥ १॥
तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा। आयेउ भृगुकुल कमल पतंगा॥ २॥

अर्थ—खड़बड़ (खलबली) देखकर जनकपुरकी स्त्रियाँ व्याकुल हैं। सब मिलकर राजाओंको गालियाँ दे रही हैं॥ १॥ श्रीशिवजीके धनुषका टूटना सुनकर भृगुकुलरूपी कमलके (खिलानेके लिये) सूर्य (रूप) परशुरामजी उसी समय आये॥ २॥

स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी—'*श्रीमानसमें परशुराम प्रसंग*' इति। श्रीवाल्मीकीय, अध्यात्म, आनन्द और भावार्थ (मराठी) रामायणोंमें श्रीपरशुरामजीका आगमन, विवाहके बाद अवधके रास्तेमें होता है। श्रीमानसमें धनुर्मख-मण्डपमें जयमाल पहनानेके अनन्तर उनका आगमन तुरत होता है। ऐसा करनेमें कल्पभेद एक हेतु कदाचित् संभाव्य है। पर इसमें बहुत-से अन्य भाव भी निहित हैं।

* नर—१७०४, छ०। पुर—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०, भा०, दा०।

(१) जयमाल पहनानेके बाद *'कूर कपूत मूढ़'* महीपति माषे थे और श्रीराम-लक्ष्मणजीसे युद्ध करके श्रीजनकनन्दिनीको बलात् अपहरण करनेकी तैयारी ही कर रहे थे। श्रीलक्ष्मणजी भी क्रुद्ध हो गये थे। जिस मण्डपमें महामङ्गलकारी जयमाला पहनायी थी, उसी मञ्जुल मङ्गल मोदमय मण्डपमें युद्ध! यह गोस्वामीजीका मन कब सह सकता था। भावी-संकट-निवारक सुगम उपाय श्रीपरशुरामजीकी उपस्थिति ही था। यह हेतु भृगुपतिके आगमनमात्रसे ही साध्य हुआ—*'देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥'* उनका सनाह पहनना और गाल बजाना एकदम बंद हो गया।

(२) *'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरइ हठि तेही॥'*—यह था विदेहका प्रण। इसके दूसरे भागकी पूर्ति तो धनुर्भंग और जयमाल पहनानेसे हो ही गयी। पर जबतक क्षत्रियकुलविध्वंसक भार्गव राम परास्त नहीं होते हैं तबतक *'त्रिभुवन जय'* न हो सकनेसे जनकमहाराजकी प्रतिज्ञा, अल्प कालके लिये ही क्यों न सही, मिथ्या हो जाती। इस दोषके निवारणके लिये उसी मण्डपमें परशुरामागमन उचित है।

(३) *'भृगुपति केरि गरब गरुआई।''''''बूड़ सो सकल समाज।'* (२६१) धनुर्भंगके पश्चात् तुरत ही यह उल्लेख कविने कर दिया है, तथापि केवल धनुर्भंगमात्रसे 'भृगुपतिकी गर्व गरुआई' नहीं बूड़ी थी। इस पूर्व घोषणाकी पूर्ति करानेके लिये भी परशुरामजीका आगमन शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक था।

(४) यदि रास्तेमें भेंट होती तो लखनलालजीकी तेजस्विता त्रैलोक्य वीरोंको कैसे विदित होती? तब श्रीजनकमहाराजके दूत *'तेज निधान लषन पुनि तैसे'* यह वाक्य कैसे कह सकते?

(५) त्रिभुवन-विदित वीरोंके समक्षमें ही, जहाँ रावण भी परास्त हो गया था, उसी स्थानमें उसी अवसरपर परशुरामजीकी गर्व-गरुताका भंजन न होता तो आगे कभी-न-कभी उन क्रूर, कपूत विमूढ़ोंको श्रीरामजीसे विरोध करनेकी नितान्त सम्भावना रह जाती।

(६) महाराजा दशरथजी जैसे माधुर्य-भक्ति-निरत श्रीरामभक्तको, श्रीरामजीके पिताको केवल अपशकुनोंके दर्शनसे ही कितना भय, क्लेश और दुःख होता है यह वाल्मीकीय और भावार्थ रामायणोंसे स्पष्ट है। श्रीदशरथ-जैसे बड़भागीको ऐसे बड़े दुःखका भागी बनानेकी कठोरता गोस्वामीजीके हृदयमें कहाँ थी!!

नोट—१ श्रीहनुमन्नाटक और प्रसन्नराघवमें भी यही क्रम है। श्रीहनुमन्नाटकमें धनुषयज्ञशालामें ही धनुर्भंगके बाद तुरत ही परशुरामागमन है। धनुषयज्ञ तथा परशुराम-गर्वदलन-प्रसङ्ग बहुत कुछ हनुमन्नाटकसे मिलता-जुलता है, जैसा हमने मिलानके श्लोकोंसे बराबर दिखाया है। 'मानस' के *'बूड़ सो सकल समाज'* की तरह उसमें भी धनुषको परशुरामके प्रौढ़ गर्वके साथ तोड़ना कहा है—**'भार्गवप्रौढाहङ्कृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः।'**(अंक १। २३) अतः साहित्यज्ञ यह कह सकते हैं कि यह क्रम हनुमन्नाटकादिसे लिया गया है और यह प्रसंग भी बहुत कुछ उसी शैलीपर रचा गया है। (मा० सं०) २८५ (४—७) में इस विषयपर प्र० सं० तथा इसी संस्करणमें लेख दिये गये हैं।

टिप्पणी—१ *'खरभरु देखि बिकल'''* इति। (क) सब राजाओंका इकट्ठे उठना ही 'खरभरु' है, यथा—*'नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभरु सोभा अधिकाई॥'* (९५। १) [यहाँ *'खरभरु'* से वह सब वाद-विवाद भी अभिप्रेत है जो *'कूर कपूत मूढ़ मन माषे।'* (२६६। १) से लेकर *'कोलाहल सुनि सीय सकानी।'* (२६७। ५) तक वर्णन किया गया है। *'कोलाहल'* और *'खरभरु'* में थोड़ा-सा अन्तर है। कोलाहलमें चिल्लाहट, शोर, हल्लाहीका विशेष भाव रहता है और *'खरभरु'* में गुलगपाड़ा हल्लाके साथ हलचल और गड़बड़ीका भी भाव है जो व्याकुलताका कारण होता है। यथा—*'होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा। दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा॥'* (८४। छंद)]
(ख) *'देखि'* इति। पुरनारियोंका यहाँ देखना कहते हैं और पूर्व सीताजीका सुनना कहा है, यथा—*'कोलाहल सुनि सीय सकानी।'* (२६७। ५) भेदमें भाव यह है कि पुरनारियाँ राजाओंकी ओर देख रही हैं (राजाओंका उठना, ज़िराबख़तर आदि पहनना, वाद-विवाद करना इत्यादि सब उन्होंने देखा है), इसीसे उनका *'खरभरु'* देखना कहा और श्रीजानकीजी राजाओंकी ओर देखती नहीं हैं, इसीसे उनके सम्बन्धमें देखना न कहकर